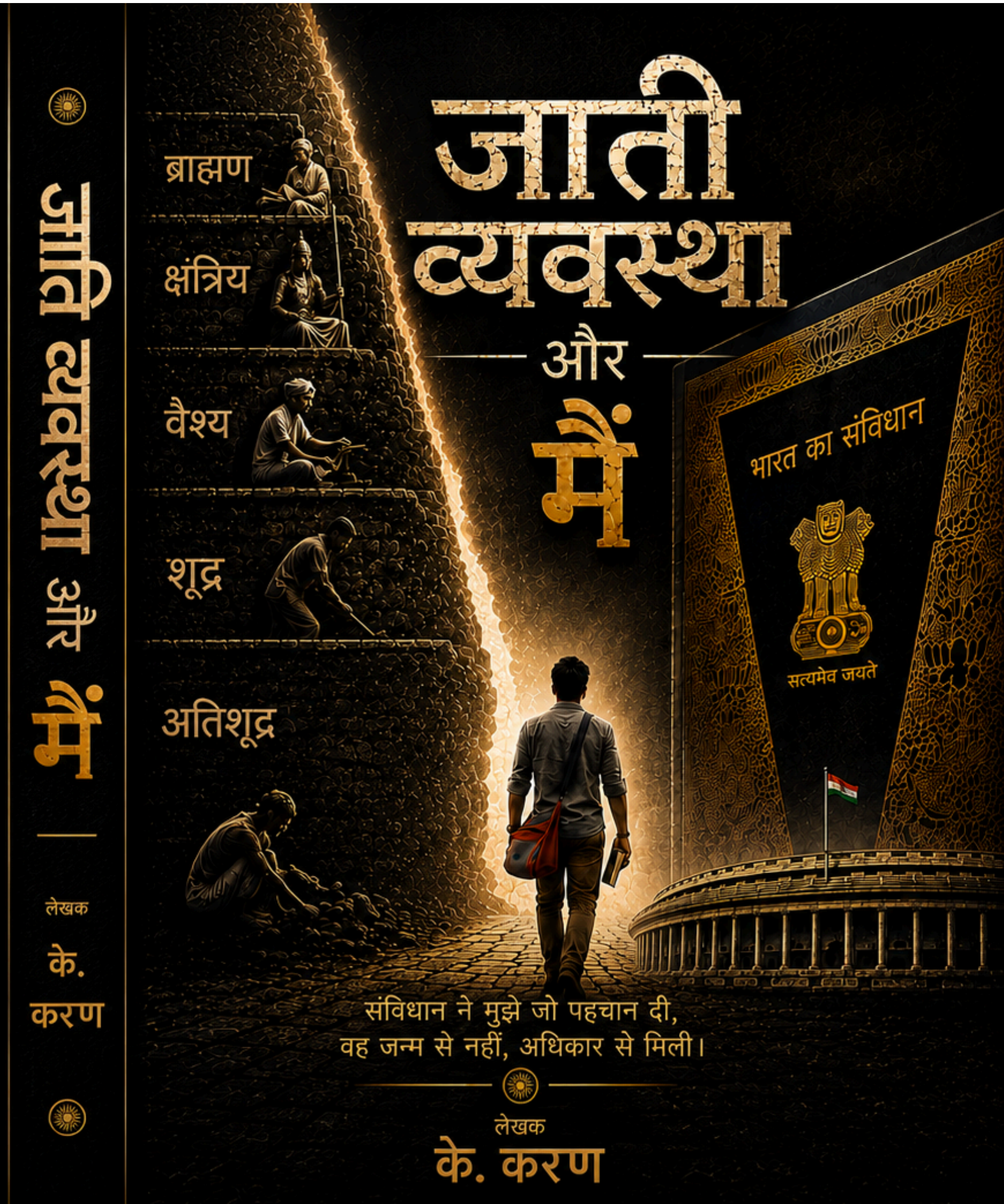
जाति व्यवस्था और मैं
लेखक
के. करण
ब्राह्मण
क्षंत्रिय
वैश्य
शूद्र
अतिशूद्र
जाती
व्यवस्था
और
मैं
भारत का संविधान
सत्यमेव जयते
संविधान ने मुझे जो पहचान दी,
वह जन्म से नहीं, अधिकार से मिली।
लेखक
के. करण

जाति-व्यवस्था

और

मैं.

लेखक - के.करण

डिस्क्लेमर:

इस किताब में बताए गए विचार सिर्फ़ लेखक के हैं और ये पर्सनल रिसर्च, एनालिसिस और सामाजिक और ऐतिहासिक तथ्यों की व्याख्या पर आधारित हैं। लेखक का इरादा किसी भी धर्म, समुदाय या व्यक्ति को चोट पहुँचाना नहीं है।

© 2026 के. करण

सभी अधिकार सुरक्षित।

इस किताब का कोई भी हिस्सा लेखक से पहले से लिखकर इजाजत लिए बिना दोबारा बनाया, बांटा, किसी रिट्रीवल सिस्टम में स्टोर, या किसी भी रूप में या किसी भी तरीके से—इलेक्ट्रॉनिक, मैकेनिकल, फोटोकॉपी, रिकॉर्डिंग, या किसी और तरह से—ट्रांसमिट नहीं किया जा सकता,

सिवाय रिव्यू, रिसर्च, या एकेडमिक रेफरेंस में इस्तेमाल किए गए छोटे कोटेशन के।

टाइटल: द सिस्टम ऑफ़ कास्ट एंड मी

लेखक: के. करण

एडिशन: पहला एडिशन, 2026

भारत में पब्लिश हुआ

यह काम कॉपीराइट एक्ट, 1957 (भारत) के तहत सुरक्षित है

मैं यह किताब

‘हम, भारत के लोग'

को समर्पित करता हूँ:

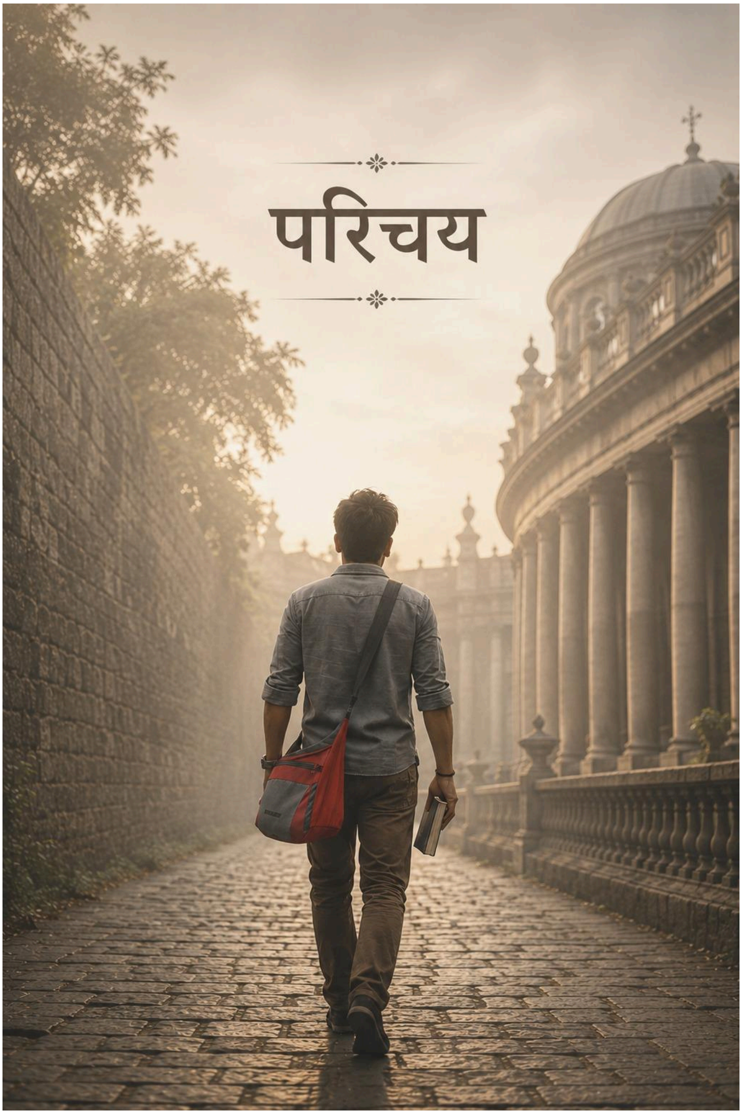
परिचय

देखिए, सबसे पहले मैं कोई पेशेवर लेखक नहीं हूँ और न ही यह पुस्तक मैंने किसी भविष्य के पेशे को नज़र में रखकर लिखी है। इस पुस्तक को लिखने का मेरा उद्देश्य मात्र इतना है कि भारत में हो रहे आधुनिक जातीय भेदभाव की संकीर्णता और पूर्वाग्रह के शिकार लोग कम से कम हों अथवा कभी भी न हों। क्योंकि शायद आपको इस बात का अंदाज़ा भी नहीं होगा कि यह जातीय व्यवस्था किस तरह से भारत देश में बंधुत्व की भावना को हजारों सालों से लगातार समाप्त करती आ रही है और वर्तमान में भी लगातार अपने चरम की ओर बढ़ रही है तथा लोगों के बीच बंधुत्व की भावना को बिना उनके पता लगे ही समाप्त करती जा रही है।

इस पुस्तक की एक खासियत है, जो मैंने अब तक देखी है। जिस भारतीय व्यक्ति ने इस पुस्तक को पढ़ा, वह या तो इस पुस्तक का पूर्णतः समर्थक हो गया या फिर इस पुस्तक का पूर्णतः विरोधी हो गया। अब कारण क्या है, यह तो आप इस पुस्तक को पूर्णतः पढ़कर ही पता कर सकते हैं। परन्तु जो व्यक्ति पूर्वाग्रह और जातीय संकीर्णता को पूर्णतः कट्टरता से पालन करता है, तो शायद उस व्यक्ति को यह पुस्तक थोड़ी ठेस पहुँचाए। परन्तु जो व्यक्ति वास्तव में सामाजिक कल्याण, देश और बंधुत्व की भावना की दृष्टि से इसे पढ़ेगा, वह किसी न किसी रूप में इस पुस्तक में अपने भाव और विचार अवश्य पाएगा। यदि इस पुस्तक का कोई एक उद्देश्य है, तो वह केवल इतना है कि किसी भी मनुष्य की पहचान उसके जन्म से नहीं, बल्कि उसके व्यक्तित्व, कर्म और मानवीय गरिमा से होना चाहिए।

इस पुस्तक में कुछ ऐसे विचार भी रखे गए हैं जो वर्तमान सामाजिक व्यवस्था पर गंभीर प्रश्न उठाते हैं। उदाहरण के लिए, क्या किसी व्यक्ति की जाति केवल उसके जन्म के आधार पर तय होनी चाहिए,

या उसे अपनी पहचान चुनने की स्वतंत्रता होनी चाहिए? इसी प्रकार, क्या अंतर-जातीय विवाह को केवल व्यक्तिगत पसंद का विषय मानकर पूर्ण सामाजिक और कानूनी संरक्षण नहीं मिलना चाहिए? ऐसे अनेक प्रश्न इस पुस्तक में चर्चा का विषय हैं, जिन पर पाठक स्वयं विचार कर सकता है।

क्योंकि वास्तव में इस पुस्तक का मूल आधार ही भारत का संविधान है। भारत के संविधान की प्रस्तावना, जिसे संविधान की आत्मा कहा जाता है, में उल्लेखित तीन आधारभूत बातें, जिन पर यह पुस्तक और इस पुस्तक को लिखने का मेरा उद्देश्य भी आधारित है, क्रमशः — देश की एकता, अखंडता और बंधुत्व बढ़ाने वाला भाईचारा।

ये विचार और शब्द डॉ. भीमराव आंबेडकर जी के थे। उनके शब्दों को लेकर देश के लोगों के प्रति उनकी कैसी चिंताएँ थीं, यह भी आपको इस पुस्तक में विस्तार से पढ़ने को मिलेगा। इस पुस्तक में यह भी विचार किया गया है कि यदि समाज में वास्तविक भाईचारा स्थापित करना है, तो अंतर-जातीय विवाह को अधिक मजबूत कानूनी और सामाजिक संरक्षण मिलना चाहिए तथा किसी व्यक्ति की जाति जन्म के आधार पर स्थायी रूप से तय नहीं मानी जानी चाहिए।

तो जब किसी पुस्तक का आधार स्वयं भारत का संविधान हो, तो उससे लोग असंतुष्ट कैसे हो सकते हैं?

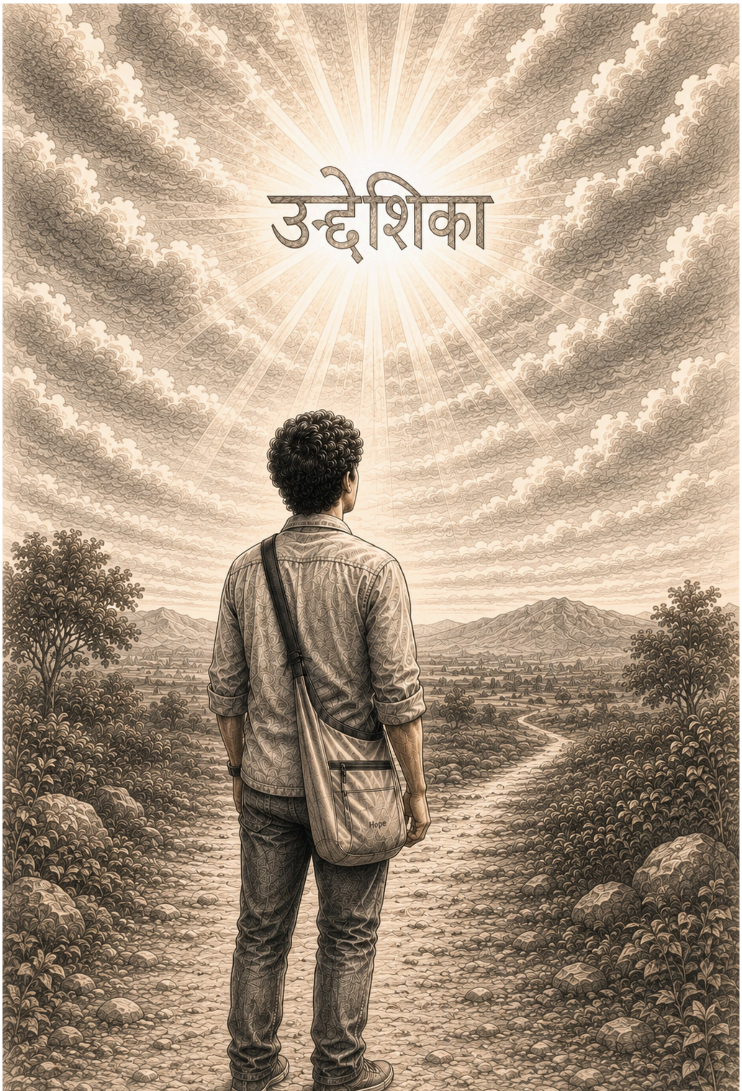
उद्देशिका
Hope

1. किसी भी व्यक्ति की जाति उसके जन्म के आधार पर तय नहीं होनी चाहिए। हर व्यक्ति को यह स्वतंत्रता होनी चाहिए कि वह किसी जाति से अपनी पहचान जोड़ना चाहता है या नहीं। किसी व्यक्ति का जन्म, उसका परिवार या उसका वंश उसकी स्थायी सामाजिक पहचान तय नहीं कर सकता। एक ऐसे समाज में, जो समानता, स्वतंत्रता, सम्मान और भाईचारे पर आधारित हो, किसी व्यक्ति का स्थान और अवसर उसकी योग्यता और पसंद से तय होने चाहिए, न कि उसकी जाति से।

2. भारत के प्रत्येक वयस्क नागरिक को अंतर-जातीय विवाह करने का पूर्ण संवैधानिक अधिकार होना चाहिए और इस अधिकार की रक्षा की जानी चाहिए। अपना जीवनसाथी चुनना व्यक्ति की स्वतंत्रता, सम्मान और निजी जीवन का महत्वपूर्ण हिस्सा है। केवल जाति के आधार पर ऐसे विवाह का विरोध करना समानता, भाईचारे और समान नागरिकता की भावना के विरुद्ध है।

3. इसी प्रकार, किसी भी व्यक्ति को अपने परिवार, वंश या पूर्वजों से मिले सरनेम (उपनाम) को रखने के लिए मजबूर नहीं किया जाना चाहिए। प्रत्येक व्यक्ति को अपनी इच्छा के अनुसार सरनेम रखने, बदलने या हटाने की स्वतंत्रता होनी चाहिए।

4. इसके अलावा, सरकारी या कानूनी दस्तावेज़ों में सरनेम बताना अनिवार्य नहीं होना चाहिए, सिवाय उन मामलों के जहाँ कानून द्वारा इसकी विशेष आवश्यकता हो। सरनेम

किसी व्यक्ति की जाति या सामाजिक पृष्ठभूमि का अनिवार्य चिन्ह न होकर उसकी व्यक्तिगत पसंद का विषय होना चाहिए।

5. हिंदू परंपरा में जीवन के विभिन्न महत्वपूर्ण चरणों से जुड़े अनेक संस्कारों का वर्णन मिलता है, जिन्हें सामान्य रूप से षोडश संस्कार या सोलह संस्कार कहा जाता है। इन संस्कारों का उद्देश्य व्यक्ति के जीवन और उसके आध्यात्मिक विकास के महत्वपूर्ण पड़ावों को चिह्नित करना है। किसी भी व्यक्ति को केवल उसकी जाति के आधार पर भेदा-भाव कर, किसी संस्कार को करने, उसमें भाग लेने या उस संस्कार से जुड़ने के लिए रोका नहीं जाना चाहिए। सभी लोगों को धार्मिक और सामाजिक परंपराओं में सामान सम्मान और समान अवसर प्राप्त होने चाहिए।

6. सरकार किसी भी ऐसी परंपरा, रीति-रिवाज या सामाजिक व्यवस्था को समर्थन नहीं देगी, जो जाति के आधार पर लोगों में ऊँच-नीच या भेदभाव को बनाए रखती हो या उसे बढ़ावा देती हो।

“किसी देश की ताक़त सिर्फ़ उसके रिसोर्स, दौलत या मिलिट्री पावर में नहीं होती। ये उसकी मटेरियल पावर को दिखा सकते हैं, लेकिन किसी देश की असली ताकत उसके नागरिकों के बीच एकता, भाईचारे और आपसी सम्मान की भावना में होती है।”

- डॉ. बी.आर. अंबेडकर

डॉ. बी.आर. अंबेडकर ने इस बात पर ज़ोर दिया कि सामाजिक एकता और भाईचारे के बिना कोई भी देश सच में मज़बूत नहीं बन सकता, चाहे उसके पास कितना भी पैसा या रिसोर्स क्यों न हों।

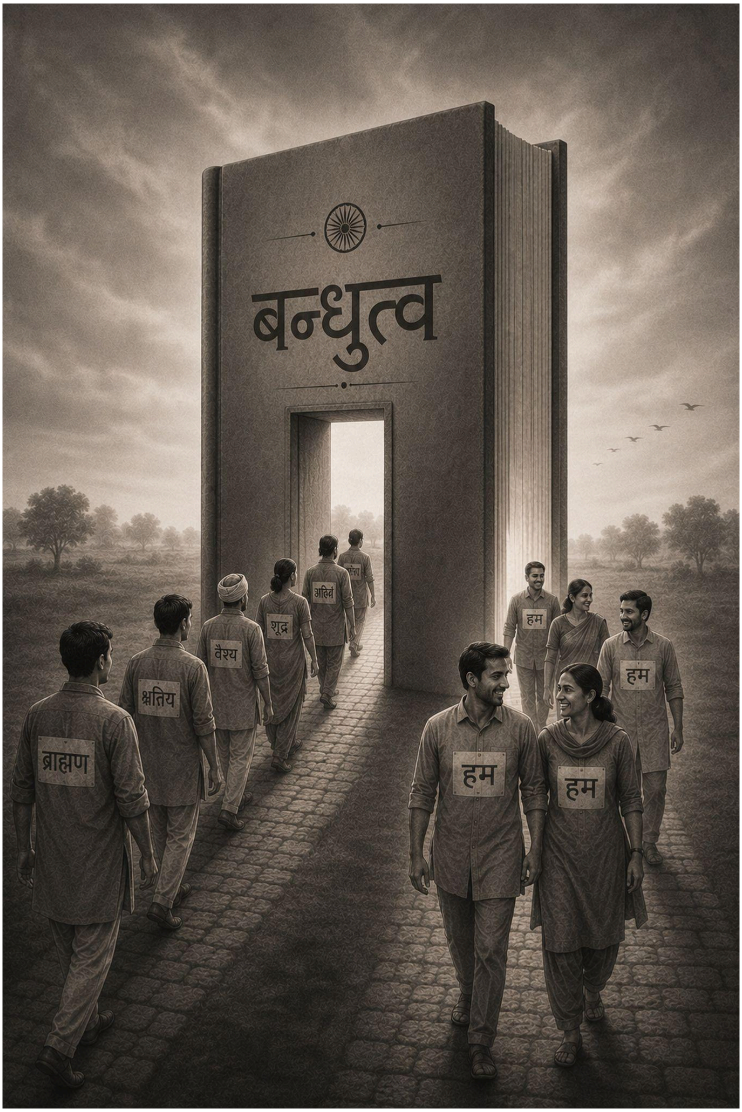
बन्धुत्व
ब्राह्मण
क्षतिय
वैश्य
शूद्र
हम
हम
हम
हम
हम

जाति से बंधुत्व तक, “संविधान, समाज और हम ”

भाग – 1 : भारत का संविधान ...(1 से 66)

संवाद – 1 : संविधान की आत्मा और बाबा साहेब आंबेडकर ..(2 से 4)

संवाद – 2 : बाबा साहेब आंबेडकर और उनके मन में उठी चिंताएँ ..(5 से 11)

संवाद – 3 : जाति व्यवस्था का विनाश और अंतर-जातीय विवाह : एक संवैधानिक अधिकार ..(13 से 16)

संवाद – 4 : हिंदू धर्म और सोलह संस्कार (विशेष रूप से उपनयन एवं विवाह संस्कार) ..(17 से 22)

संवाद – 5 : डॉ. आंबेडकर, अंतर-जातीय विवाह और हिंदू कोड बिल-(1947–1951) ..(23 से 44)

क्या वाकई इस देश में लोग जातीय भेदभाव नहीं मानते?
(“हम भारत के लोग —बटे हुए है जातीय आधार पर हर तरह से ?”)

संवाद – 6 : छुआछूत अधिक कठोर या जाति व्यवस्था तथा संविधान का संशोधन का प्रश्न? ..(45 से 66)

भाग-2 : समाज **...(68 से 177)**

संवाद -1 : भारतीय समाज और उसकी जातीय व्यवस्था ..(69 से 71)

संवाद – 2: जाति व्यवस्था — मिथ्या या ऐतिहासिक वास्तविकता? ..(72 से 172)

(क) जाति व्यवस्था और वर्ण व्यवस्था में मूलभूत अंतर क्या है? ..(92 से 135)

(ख) क्या वर्ण व्यवस्था स्वयं भी विवादों से मुक्त रही है? ..(136 से 169)

(ग) आज के समाज में जाति व्यवस्था के अस्तित्व का वास्तविक कारण क्या है? ..(170 से 172)

संवाद -3 सबसे बड़ा प्रश्न — क्या इस विशाल जातीय जाल से निकलने के केवल दो ही रास्ते हैं? ..(173 से 177)

भाग-3 : हम **...(179 से 205)**

संवाद–1 : 'आप' और 'मैं' — आपके कुछ सवाल और आपसे कुछ जवाब ..(181 से 188)

संवाद–2 : क्या 'आप' और 'मैं', 'हम' बन पाए हैं? ..(189 से 194)

संवाद–3 : 'हम' — समानता, सम्मान और बन्धुत्वता की ओर.. ..(195 से 205)

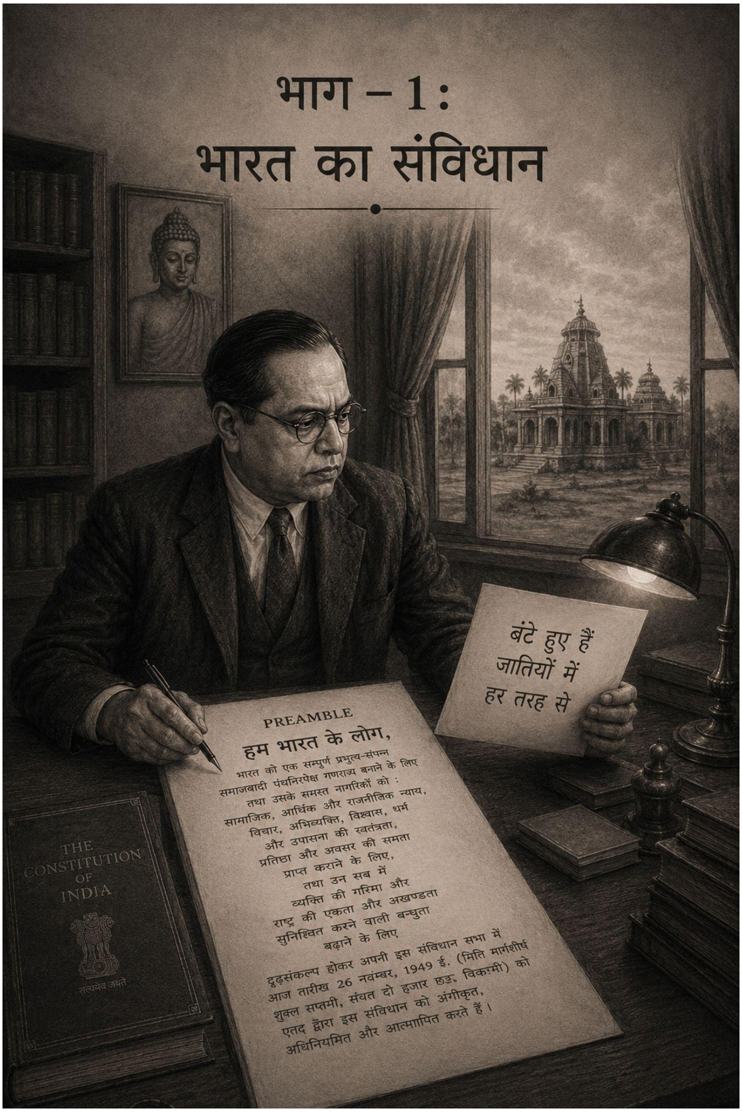

“ बाबा साहेब आंबेडकर और उनके मन में उठी चिंताएँ ”

संवाद – 1 : संविधान की आत्मा और बाबा साहेब आंबेडकर

'भारत का संविधान' जब बाबा साहेब अंबेडकर ने तैयार किया, तब उन्होंने एक दूरदर्शी सोच के साथ इस संविधान की संरचना तैयार की। जहाँ पर उन्होंने संविधान की शुरुआत में प्रस्तावना की स्थिति को दर्शाया किया। न केवल दर्शाया, बल्कि उसमें उन्होंने अपनी दूरदर्शी विचारधारा से कुछ ऐसी महत्वपूर्ण बातें लिखीं, जो आज भी व्यवहारिक हैं और उस समय भी व्यवहारिक थीं। इन्हीं बातों के कारण प्रारंभिक प्रस्तावना को संपूर्ण संविधान की आत्मा कहा जाता है।

प्रस्तावना में मुख्यतः चार बातें हैं, जिन पर संपूर्ण संविधान का टिकाव है— न्याय (सामाजिक, आर्थिक और राजनीतिक), स्वतंत्रता (विचार, अभिव्यक्ति, विश्वास, धर्म और उपासना की), समता (प्रतिष्ठा और अवसर की समता प्राप्त करने के लिए) तथा बंधुत्व (व्यक्ति की गरिमा और राष्ट्र की एकता और अखंडता को सुनिश्चित करने वाली भावना)।

मैं यहाँ उपर्युक्त तीनों महत्वपूर्ण बातों पर चर्चा नहीं करूँगा, क्योंकि मुझे विश्वास है कि इस देश में न्याय, स्वतंत्रता और समता—ये तीनों संवैधानिक मूल्य प्रत्येक व्यक्ति को किसी न किसी स्तर पर समान रूप से प्राप्त होते हैं। परंतु मेरा यहाँ जो मुख्य आधार है, तथा जिस सोच के साथ बाबा साहेब अंबेडकर ने इसे चौथे मुख्य बिंदु, अर्थात् **बंधुत्व**, को रखा था, वह यह सोच थी कि 'किसी भी देश की ताकत वहाँ के संसाधन या किसी प्रकार की धन-संपदा नहीं होती, बल्कि वहाँ के लोगों के बीच बंधुत्व की भावना का सर्वव्यापी प्रसार ही एक राष्ट्र में एकता की भावना जगाता है।' वह जानते थे कि यदि इस देश के लोगों ने जिस दिन अपने मन से जातीय, धार्मिक और द्वेष की भावना को परे रखकर भाईचारे की भावना को अपनाया, और इस भावना के साथ इस देश के

विकास के बारे में सोचा, तो यह देश वाकई में किसी भी अन्य देश से अधिक शक्तिशाली और आत्मनिर्भर बन सकता है, और बन जाएगा। तभी उन्होंने बंधुत्व के आगे "एकता" और "अखंडता" जैसे शब्दों का प्रयोग किया।

आंबेडकर जी ने देश की आधुनिक जाती व्यवस्था को बहुत गहराई से देखा था और न केवल देखा था बल्कि उस भेद-भाव भरी ज़िन्दगी को उन्होंने जिया भी था।

वह जानते थे कि जब तक इस देश में यह जाति व्यवस्था, जो इतनी जटिल और इतनी भयावह स्थिति में विद्यमान है, उससे लोग बाहर नहीं आएँगे, तब तक इस देश में संपूर्ण एकता, अखंडता और भारत का वास्तविक निर्माण नहीं हो पाएगा। इसलिए इसका समाप्त होना आवश्यक है, ताकि देश की जिस अखंडता का ज़िक्र किया गया है, वह वास्तव में स्थापित हो सके और देश को संपूर्ण एकता प्राप्त हो।

क्या वाकई अंबेडकर जी की यह दूरदर्शी सोच, बंधुत्व के विचारों को पूर्णतया रूप से स्थापित कर पाई है, या फिर जिस बात का डर अंबेडकर जी को था, कहीं वही तो आज सच साबित नहीं हो रहा है, और क्या यह जाति व्यवस्था, जिसने हज़ारों वर्षों से लोगों के मन में विभाजन बनाए रखा है, आज भी उसी प्रकार बंधुत्व की भावना को कमजोर नहीं कर रही है? क्या आज भी लोगों के दिमाग में इस जाति व्यवस्था का बीज पनप रहा है, और या फिर यह कहना अधिक उचित होगा कि यह बीज तो बहुत पहले ही एक विशालकाय पेड़ का रूप ले चुका था। अंबेडकर जी ने संविधान में जाति-भेदभाव को समाप्त करने का प्रयास अवश्य किया, परंतु इस जाति व्यवस्था रूपी विशालकाय पेड़ की केवल कुछ शाखाओं को ही काटा जा सका। समय के साथ उसके कई रूप बदले, लेकिन क्या वास्तव में जाति व्यवस्था कभी पूरी तरह समाप्त हुई?

अंबेडकर जी का डर यही था कि यदि समाज जाति, धर्म और अन्य सामाजिक विभाजनों से ऊपर उठकर बंधुत्व की भावना को नहीं अपनाएगा, तो राष्ट्र की एकता और अखंडता हमेशा चुनौती के घेरे में रहेगी। उनका मानना था की , बंधुत्व किसी एक धर्म, जाति या समुदाय के बीच ही नहीं , बल्कि पूरे देश के प्रत्येक नागरिक के बीच होना चाहिए। उनका मानना था कि जब तक सभी लोग स्वयं को एक समान राष्ट्र का हिस्सा मानकर आपसी सम्मान, भाईचारे और मानवता की भावना के साथ नहीं जीएँगे, तब तक संविधान में निहित आदर्शों की पूर्ण स्थापना संभव नहीं होगी। इन सभी सवालों के जवाब को हम न केवल गहराइयों से समझ ही पाएंगे, बल्कि आप लोगों को उतनी ही गहराई से समझा भी पाएंगे।

संवाद – 2 : बाबा साहेब आंबेडकर और उनके मन में उठी चिंताएँ

डॉ. अंबेडकर के मन में उठे सवालों और जाति-व्यवस्था को लेकर उनकी चिंताओं को समझने से पहले हमें भारत में जाति-व्यवस्था की हकीकत को समझना होगा। आइए, जरा इस पर नजर डालते हैं। उम्मीद है यह स्थिति आपको चौका देगी।

क्या आप जानते हैं कि सांख्यिकी और डेटा तथा WORLDOMETER के अनुसार वर्ष 2026 में दुनिया में लगभग 4,000 धर्म मौजूद हैं, जिनमें विश्व की लगभग 8.3 अरब जनसंख्या सम्मिलित है?

जो बात आप आगे पढ़ने जा रहे हैं, वह आपको आश्चर्यचकित कर सकती है, इसलिए मैं आपसे आग्रह करता हूँ कि इसे ध्यानपूर्वक समझें।

जैसा कि हमने अभी जाना, दुनिया की 8.3 अरब जनसंख्या लगभग 4,000 धर्मों में विभाजित है जो की स्वाभाविक लगती है। अब अपना ध्यान भारत की ओर केंद्रित करते हैं, जो लगभग 1.4 अरब लोगों का देश है और विश्व की कुल जनसंख्या का लगभग 17–18 प्रतिशत प्रतिनिधित्व करता है। भारत अनेक धर्मों का घर है, जिनमें हिंदू धर्म, इस्लाम, ईसाई धर्म, बौद्ध धर्म, सिख धर्म तथा अन्य धर्म शामिल हैं। इनमें से हिंदू धर्म सबसे बड़ा धर्म है, जो भारत की लगभग 80 प्रतिशत जनसंख्या का प्रतिनिधित्व करता है।

हालाँकि, सबसे उल्लेखनीय बात कहीं और निहित है।

सरकारी आँकड़ों तथा मानवशास्त्र (ANTHROPOLOGY) के अनेक अध्ययनों के अनुसार स्वयं हिंदू धर्म की जनसंख्या के भीतर ही 5000 से भी अधिक जातियाँ है। इस तथ्य पर गंभीरता से विचार कीजिए। एक ओर, संपूर्ण विश्व अपनी 8.3 अरब जनसंख्या के साथ लगभग 4,000 धर्मों में विभाजित है। दूसरी ओर, एक ही धर्म, जिसमें भारत की लगभग 1.4 अरब जनसंख्या का 80 प्रतिशत भाग सम्मिलित है वह स्वयं में ही इतनी अधिक जातियों में बटा है,

और विभाजन यहीं समाप्त नहीं होता।

इनमें से अनेक जातियाँ आगे चलकर हजारों उपजातियों में विभाजित हैं। विभिन्न अध्ययनों और सामाजिक अभिलेखों में ऐसी उपजातियों की संख्या दसियों हजार बताई गई है, जिनका अनुमान प्रायः 30,000 से अधिक लगाया जाता है। इस प्रकार, एक विशाल जनसंख्या न केवल हजारों जातियों में वर्गीकृत है, बल्कि आगे चलकर हजारों छोटी-छोटी सामाजिक इकाइयों में भी विभाजित है।

यह एक महत्वपूर्ण प्रश्न को जन्म देता है। यह समझ में आ सकता है कि 8.3 अरब लोगों की विश्व जनसंख्या हजारों धर्मों में विभाजित हो। लेकिन उस सामाजिक व्यवस्था को किस प्रकार समझा जाए, जिसमें एक ही धार्मिक समुदाय, जो किसी राष्ट्र की जनसंख्या के विशाल बहुमत का प्रतिनिधित्व करता है, स्वयं हजारों जातियों और दसियों हजार उपजातियों में विभाजित हो?

ऐतिहासिक रूप से ये विभाजन केवल नाममात्र की पहचान या जनसांख्यिकीय श्रेणियाँ नहीं रहे हैं। अनेक मामलों में इन जातिवे समूहों ने केवल विशिष्ट जाति समूह के रूप में कार्य नहीं किए, बल्कि उन समूहों के बीच विवाह, समाज और अंतरजातीय सामाजिक स्थितियों के संबंध विशेष रीति-रिवाज, नियमों, परंपराओं को सम्पूर्ण रूप से एक दूसरे के लिए प्रतिबंध करते आए हैं जोकि राष्ट्र की बंधुत्व भावना को लगातार कमजोर बनाते आए हैं, परिणामस्वरूप यह जातियाँ व उपजातियाँ ने समाज के भीतर लोगो को एक शक्तिशाली जातिगत सीमाओं में बांधकर रखा है जो इस देश की आबादी का लगभग अस्सी प्रतिशत हिस्सा है, यदि यह बहुत बड़ा हिस्सा ही जातिगत रूप से एक नहीं अथवा अत्यंत कठोरता से अपनी अपनी जातिगत सीमाओं वे समूहों में बंधी हों, तो यह जन समूह देश की एकता निर्धारण कैसे कर सकती है? अथवा संपूर्ण देश में स्वयं एकता और बंदुत्व की भावना कैसे आ सकती है?

सामाजिक विखंडन का स्रोत प्रत्यक्ष रूप से जातिवाद है, इन विभाजनों का पैमाना निस्संदेह उल्लेखनीय है। यह विरोधाभास अत्यंत स्पष्ट है— जहाँ संपूर्ण विश्व लगभग 4,000 धर्मों में विभाजित है, वहीं भारत में एक ही धार्मिक समुदाय के भीतर ऐतिहासिक रूप से हजारों जातियाँ और दसियों हजार उपजातियाँ विद्यमान रही हैं।

जिस देश की लगभग अस्सी प्रतिशत आबादी हजारों जातियों और उपजातियों में विभाजित हो, जहाँ एक जाति और दूसरी जाति के बीच की सामाजिक दूरी कई बार दो अलग-अलग धर्मों के लोगों के बीच की दूरी जैसी प्रतीत होती हो, वहाँ यह कहना अतिशयोक्ति नहीं होगी कि एक धर्म से दूसरे धर्म में जाना अपेक्षाकृत अधिक सरल और भारतीय कानून के अंतर्गत संभव है, जबकि एक जाति से दूसरी जाति में जाना न तो तुलनात्मक रूप से सरल है और न ही इसके लिए कोई सामान्य

कानूनी व्यवस्था उपलब्ध है। क्या ऐसी जातिगत व्यवस्था में सच्ची एकता और भाईचारे की उम्मीद की जा सकती है?

यह बँटवारा न तो दस साल पुराना है, न सौ साल पुराना और न ही कुछ सदियों पुराना। यह हजारों सालों से चली आ रही एक ऐसी व्यवस्था है जिसने लोगों को अलग-अलग खेमों में बाँट रखा है। इसने केवल समाज को ही नहीं बाँटा, बल्कि लोगों की सोच, मानसिकता और आपसी रिश्तों तक को गहराई से प्रभावित किया है।

यही वजह थी कि हिंदू समाज की जाति-व्यवस्था डॉ. अंबेडकर की सबसे बड़ी चिंताओं में से एक थी। बल्कि यह कहना ज्यादा सही होगा कि संविधान की प्रस्तावना में जो "बंधुत्व" (FRATERNITY) का सिद्धांत रखा गया, वह केवल एक सुंदर शब्द नहीं था। उसके पीछे उस समाज की सच्चाई थी जो हजारों जातियों और उपजातियों में बँटकर अपनी सामूहिक ताकत खो चुका था।

डॉ. अंबेडकर अच्छी तरह जानते थे कि जब तक समाज का इतना बड़ा हिस्सा जाति और उपजाति की दीवारों में कैद रहेगा, तब तक लोगों के बीच सच्ची एकता, समानता और भाईचारा पैदा नहीं हो सकता। जिस समाज में इंसान की पहचान उसके चरित्र, उसकी मेहनत और उसकी योग्यता से पहले उसकी जाति से की जाती हो, वहाँ बंधुत्व की भावना मजबूत नहीं हो सकती। अगर देश की इतनी बड़ी आबादी खुद को सबसे पहले भारतीय मानने के बजाय अलग-अलग जातीय समूहों का हिस्सा मानती रहे, तो राष्ट्रीय एकता और अखंडता सिर्फ भाषणों और नारों तक सीमित रह जाएगी। और जिस देश के लोगों में एक-दूसरे के लिए सम्मान, अपनापन और भाईचारा न हो, वह देश बाहर से चाहे जितना मजबूत दिखाई दे, अंदर से कभी मजबूत नहीं हो सकता।

इसीलिए डॉ. अंबेडकर ने बंधुत्व पर इतना जोर दिया। उनका मानना था कि किसी देश की ताकत केवल उसकी सेना, उसकी दौलत, उसके संसाधनों या उसकी आर्थिक शक्ति से नहीं मापी जा सकती। ये चीजें किसी देश की भौतिक ताकत को जरूर दिखाती हैं, लेकिन किसी देश की असली ताकत उसके लोगों के बीच मौजूद एकता, भाईचारे, पारस्परिक सम्मान और बंधुत्व की भावना में होती है।

सामाजिक एकता के बिना न लोकतंत्र सफल हो सकता है और न विकास सब तक पहुँच सकता है। कोई देश चाहे कितना भी अमीर क्यों न हो जाए, अगर उसके भीतर समाज जातियों और समूहों में बँटा रहे, तो विकास का फायदा पूरे समाज तक कभी नहीं पहुंच सकता |

ऐसी स्थिति में विकास के अवसर, संसाधन और लाभ कुछ चुनिंदा लोगों और वर्गों के हाथों में सिमटकर रह जाते हैं। आम लोगों तक उसका पूरा लाभ कभी नहीं पहुँच पाता। भारत में यह स्थिति आज भी साफ दिखाई देती है।

इसीलिए डॉ. अंबेडकर के लिए बंधुत्व केवल संविधान का एक शब्द नहीं था, बल्कि राष्ट्र को मजबूत बनाने की सबसे जरूरी शर्तों में से एक था। उनका मानना था कि जब तक जाति की दीवारों की जगह इंसानियत, बराबरी और भाईचारे की भावना नहीं लेगी, तब तक राष्ट्रीय एकता और सच्चे विकास का सपना अधूरा ही रहेगा।

संवाद – 3 : जाति व्यवस्था का विनाश और अंतर-जातीय विवाह : एक संवैधानिक अधिकार

इन सभी तथ्यों और तर्कों से यह बात साफ हो जाती है कि जाति व्यवस्था केवल अलग-अलग पहचान बनाने की व्यवस्था नहीं है, बल्कि लोगों को लोगों से अलग करने, समाज को टुकड़ों में बाँटने और राष्ट्र की सामूहिक एकता को कमजोर करने वाली व्यवस्था है। इसके कारण समाज हजारों जातियों और उपजातियों में बंट गया, जिससे सामाजिक भाईचारा और राष्ट्रीय एकता लगातार प्रभावित होती रही है। जब तक जाति के नाम पर लोगों के बीच दीवारें बनी रहेंगी, तब तक इस देश के लोग कभी सच्चे अर्थों में एक नहीं हो पाएंगे। डॉ. अम्बेडकर ने अपनी प्रसिद्ध पुस्तक "जाति का विनाश" में लिखा कि जाति व्यवस्था की असली ताकत जाति के अंदर ही विवाह करने की परंपरा (ENDOGAMY) है। इसलिए यदि जाति व्यवस्था को जड़ से उखाड़ना है, जातियों के भेदभाव को संपूर्ण रूप से खत्म करना है तो 'अंतरजातीय विवाह' अर्थात अलग-अलग जातियों के लोगों के बीच विवाह होने चाहिए। उनका मानना था कि जब दो अलग-अलग जातियों के लोग विवाह करते हैं, तब केवल दो व्यक्ति ही नहीं जुड़ते, बल्कि दो परिवार, दो समुदाय और दो सामाजिक समूह भी एक-दूसरे से जुड़ते हैं। यही वह रिश्ता है जो जाति की दीवारों को कमजोर कर सकता है और समाज में भाईचारा पैदा कर सकता है।

इसी सोच के अनुरूप भारतीय संविधान ने जाति के आधार पर भेदभाव को अस्वीकार किया। संविधान का अनुच्छेद 15 राज्य को यह अनुमति नहीं देता कि वह किसी नागरिक के साथ उसकी जाति, धर्म, लिंग या जन्मस्थान के आधार पर भेदभाव करे। इसका उद्देश्य ऐसा समाज बनाना था जहाँ किसी व्यक्ति को केवल उसकी जाति के कारण नीचा न समझा जाए और उसकी व्यक्तिगत स्वतंत्रता पर कोई रोक न लगे।

बाद में भारत के सर्वोच्च न्यायालय ने भी इस बात को बार-बार माना कि अपनी पसंद के व्यक्ति से विवाह करना हर बालिग नागरिक का संवैधानिक अधिकार है। जिसे वे कहीं न कहीं बाबा साहेब अंबेडकर की अंतर जातियां विवाह की सोच पे जोड़े डाल सके |

<u>सुप्रीम कोर्ट द्वारा दिए गए जजमेंट:</u>

मेनका गांधी बनाम भारत संघ (1978): के फैसले में सर्वोच्च न्यायालय ने कहा कि अनुच्छेद 21 में दी गई "व्यक्तिगत स्वतंत्रता" का अर्थ बहुत व्यापक है और राज्य किसी व्यक्ति की स्वतंत्रता को मनमाने तरीके से छीन नहीं सकता। इसी फैसले ने आगे चलकर जीवनसाथी चुनने के अधिकार को मजबूत संवैधानिक आधार दिया।

लता सिंह बनाम उत्तर प्रदेश राज्य (2006): में सर्वोच्च न्यायालय ने स्पष्ट कहा कि कोई भी बालिग व्यक्ति अपनी पसंद से विवाह कर सकता है, चाहे वह विवाह अंतर-जातीय हो या अंतर-धार्मिक। ऐसे विवाह करने वाले लोगों को परेशान करना या धमकाना कानून के खिलाफ है।

शफीन जहान बनाम अशोकन के.एम.(2018) (हादिया केस) : में सर्वोच्च न्यायालय ने कहा:

"अपनी पसंद के व्यक्ति से विवाह करने का अधिकार संविधान के अनुच्छेद 21 का अभिन्न अंग है।"

अर्थात अपनी पसंद के व्यक्ति से विवाह करना संविधान के अनुच्छेद 21 के तहत संरक्षित मौलिक अधिकार है।

इसके बाद,

शक्ति वाहिनी बनाम भारत संघ (2018) : में सर्वोच्च न्यायालय ने कहा कि जीवनसाथी चुनना व्यक्ति की स्वतंत्रता, गरिमा और संवैधानिक अधिकारों का हिस्सा है। किसी परिवार, खाप पंचायत या सामाजिक समूह को यह अधिकार नहीं है कि वह किसी बालिग व्यक्ति को उसकी पसंद का विवाह करने से रोके।

इन फैसलों से यह साफ होता है कि अंतर-जातीय विवाह केवल दो व्यक्तियों का निजी फैसला नहीं है, बल्कि यह संविधान द्वारा संरक्षित एक मौलिक अधिकार भी है। जिस अंतर-जातीय विवाह को डॉ. अम्बेडकर जाति व्यवस्था को कमजोर करने और समाज में भाईचारा बढ़ाने का सबसे प्रभावी साधन मानते थे, उसी विचार को आज भारतीय संविधान और सर्वोच्च न्यायालय के फैसलों ने भी मजबूती प्रदान की है।

अब ज़रा सोचिए। संविधान ने सभी नागरिकों को समानता, स्वतंत्रता और गरिमा का अधिकार दिया है। संविधान का अनुच्छेद 15 जाति के आधार पर भेदभाव को प्रतिबंधित करता है, और अनुच्छेद 21जीवन और व्यक्तिगत स्वतंत्रता, प्रत्येक व्यक्ति को अपनी पसंद का जीवन जीने तथा अपनी पसंद का जीवनसाथी चुनने का अधिकार देता है।

सर्वोच्च न्यायालय के न्यायाधीशों ने भी इस बात को समझ लिया था कि अनुच्छेद 15 में निहित जातीय भेदभाव को कम करने और विभिन्न जातियों के बीच सामाजिक दूरी को समाप्त करने का एक महत्वपूर्ण माध्यम अंतरजातीय विवाह हो सकता है, तो क्या हिंदू समाज ने वास्तव में इस भेदभाव को समाप्त करने के लिए पर्याप्त प्रयास किए हैं?

क्या यह जातीय-भेदभाव वास्तव में कम हुआ है? यहाँ सवाल का जवाब मैं पाठकों के ऊपर छोड़ता हूँ। और क्योंकि यह सवाल मेरे सामने भी है तो इसका उत्तर देना अपना कर्तव्य भी समझाता हो, उत्तर देने के लिए आइए सबसे पहले ज़रा हिंदू समाज की वास्तविक स्थिति पर नज़र डालते हैं।

संवाद – 4 : हिंदू धर्म और सोलह संस्कार (विशेष रूप से उपनयन एवं विवाह संस्कार)

हिंदू धर्म ग्रंथों में सोलह संस्कारों का ज़िक्र देखने को मिलता है। वह सोलह संस्कार कुछ इस प्रकार से हैं :

क्रम	संस्कार	संक्षिप्त अर्थ
1	गर्भाधान संस्कार	संतान प्राप्ति के उद्देश्य से किया जाने वाला संस्कार।
2	पुंसवन संस्कार	गर्भधारण के बाद गर्भस्थ शिशु के कल्याण हेतु किया जाने वाला संस्कार।
3	सीमन्तोन्नयन संस्कार	गर्भवती स्त्री और गर्भस्थ शिशु की रक्षा व मंगलकामना के लिए।
4	जातकर्म संस्कार	शिशु के जन्म के तुरंत बाद किया जाने वाला संस्कार।
5	नामकरण संस्कार	नवजात शिशु का नाम रखने का संस्कार।
6	निष्क्रमण संस्कार	शिशु को पहली बार घर से बाहर ले जाने का संस्कार।
7	अन्नप्राशन संस्कार	शिशु को पहली बार अन्न (ठोस भोजन) खिलाने का संस्कार।
8	चूड़ाकर्म(मुंडन) संस्कार	बालक के प्रथम केश-त्याग का संस्कार।
9	कर्णवेध संस्कार	कान छेदन (कान छिदवाने) का संस्कार।
10	विद्यारंभ संस्कार	शिक्षा प्रारंभ करने का संस्कार।
11	उपनयन संस्कार	गुरु के पास शिक्षा ग्रहण करने हेतु दीक्षा; जनेऊ संस्कार के रूप में प्रसिद्ध।
12	वेदारंभ संस्कार	वेदों और शास्त्रों के अध्ययन का आरंभ।
13	केशांत संस्कार	शिक्षा काल के अंतिम चरण में किया जाने वाला संस्कार।
14	समावर्तन संस्कार	गुरुकुल शिक्षा पूर्ण होने पर गृहस्थ जीवन में प्रवेश की तैयारी।
15	विवाह संस्कार	गृहस्थ आश्रम में प्रवेश और परिवार स्थापना का संस्कार।

क्रम	संस्कार	संक्षिप्त अर्थ
16	अन्त्येष्टि संस्कार	मृत्यु के बाद किया जाने वाला अंतिम संस्कार।

यह संस्कार हिंदू धर्म के प्रमुख संस्कारों में से एक है। इन संस्कारों पर **यदि ऐतिहासिक दृष्टि डाली जाए**, तो इन प्रत्येक संस्कार में जातीय आधार पर भेदभाव के अनेक उदाहरण स्पष्ट रूप से देखने को मिलते हैं। इन सभी संस्कारों में मुख्यतः हम दो संस्कारों की बात करते हैं—एक **उपनयन संस्कार** और दूसरा **विवाह संस्कार**।

उपनयन संस्कार

उपनयन संस्कार की बात करें, तो यह जानकर आश्चर्य होता है कि हिंदू समाज में लंबे समय तक शूद्रों को उपनयन संस्कार से वंचित रखा गया। उपनयन संस्कार केवल एक धार्मिक अनुष्ठान नहीं था, बल्कि ज्ञान, शिक्षा और वेदाध्ययन तक पहुँच का द्वार था। चूँकि उपनयन के बाद व्यक्ति को वेदों का अध्ययन करने का अधिकार प्राप्त होता था, इसलिए शूद्रों को उपनयन से वंचित करने का अर्थ था उन्हें शिक्षा और धार्मिक ज्ञान से दूर रखना।

जब किसी वर्ग से उपनयन का अधिकार छीन लिया गया, तो उससे शिक्षा प्राप्त करने का अवसर भी छीन लिया गया। परिणामस्वरूप वह वर्ग सामाजिक और धार्मिक दृष्टि से निम्न स्थिति में धकेल दिया गया। यह स्थिति इस बात को दर्शाती है कि किस प्रकार जातिगत पूर्वाग्रहों और संकीर्णताओं ने समाज के एक बड़े वर्ग को ज्ञान और सम्मान से दूर रखा। और यदि ब्राह्मणों और शूद्रों की बात हो ही रही है, तो उस पुरुषसूक्त का उल्लेख भी आवश्यक हो जाता है जिसका वर्णन ऋग्वेद

में मिलता है। पुरुषसूक्त के अनुसार समाज को चार वर्णों—ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र—में विभाजित किया गया। शूद्रों को इस वर्ण व्यवस्था में सबसे निम्न स्थान दिया गया। किंतु प्रश्न यह है कि शूद्रों को यह निम्न स्थिति क्यों प्राप्त हुई? इसका कारण कोई दैवी आदेश या जन्मगत हीनता नहीं थी। शूद्र मूलतः क्षत्रिय समुदायों का ही एक भाग थे, परंतु ब्राह्मणों और शूद्र क्षत्रियों के बीच उत्पन्न संघर्षों तथा वैमनस्य के परिणामस्वरूप उनका उपनयन संस्कार बंद कर दिया गया। उपनयन से वंचित होने के कारण वे वेदाध्ययन, धार्मिक अधिकारों और सामाजिक प्रतिष्ठा से दूर होते चले गए। यही वह प्रक्रिया थी जिसके माध्यम से शूद्रों को धीरे-धीरे सामाजिक क्रम में सबसे नीचे स्थापित कर दिया गया। डॉ. आंबेडकर ने अपनी पुस्तक "शूद्र कौन थे?" में यह तर्क प्रस्तुत किया कि शूद्रों की निम्न स्थिति किसी दैवी व्यवस्था का परिणाम नहीं थी, बल्कि ऐतिहासिक संघर्षों और सामाजिक टकरावों का परिणाम थी। ब्राह्मणों और कुछ क्षत्रिय समूहों के बीच उत्पन्न संघर्षों और वैमनस्य के परिणामस्वरूप शूद्रों का उपनयन बंद कर दिया गया। उपनयन से वंचित होने के कारण वे वेदाध्ययन और धार्मिक अधिकारों से दूर हो गए, और धीरे-धीरे उन्हें सामाजिक क्रम में निम्न स्थान पर स्थापित कर दिया गया। यदि शूद्रों से उपनयन का अधिकार नहीं छीना गया होता, तो उनकी सामाजिक स्थिति वैसी नहीं होती जैसी बाद में बना दी गई। शूद्रों को वर्ण व्यवस्था में नीचे ढकेल दिए जाने का एक प्रमुख कारण उन्हें धार्मिक और शैक्षणिक अधिकारों से वंचित किया जाना था।हम आने वाले अध्यायो में डॉ. आंबेडकर के इस सिद्धांत का विस्तृत विश्लेषण करेंगे। परन्तु उससे पहले,

इस ऐतिहासिक पृष्ठभूमि को देखते हुए यह प्रश्न स्वाभाविक रूप से उठता है कि यदि किसी समाज में हजारों वर्षों तक जाति के आधार पर अधिकार, सम्मान, शिक्षा और अवसर निर्धारित किए जाते रहे हों, तो क्या केवल यह कह देने भर से कि आज सब समान हैं, उस इतिहास के प्रभाव समाप्त हो जाते हैं? क्या उन सामाजिक धारणाओं, पूर्वाग्रहों और व्यवहारों का प्रभाव वर्तमान में पूरी तरह समाप्त हो चुका है?

आज भी लाखों लोग अपने नाम के आगे जातिसूचक उपनाम लगाते हैं। बहुत से लोग इसे केवल पहचान का माध्यम मानते हैं, जबकि अन्य लोग इसे जातीय पहचान और सामाजिक विभाजन को बनाए रखने वाली परंपरा के रूप में देखते हैं। यह बहस आज भी जारी है। किंतु यह प्रश्न विचारणीय अवश्य है कि यदि जाति का कोई सामाजिक महत्व नहीं रह गया है, तो फिर जातीय पहचान को सार्वजनिक रूप से प्रदर्शित करने की आवश्यकता क्यों बनी हुई है?

वर्तमान समय में भी उपनयन संस्कार को लेकर अनेक प्रश्न उठते हैं।कुछ परंपरागत समुदायों में आज भी यह धारणा मौजूद है कि जनेऊ धारण करने का अधिकार केवल कुछ विशेष जातियों तक सीमित है। इससे यह प्रश्न बना रहता है कि क्या धार्मिक और सामाजिक समानता व्यवहारिक रूप से सभी समुदायों को समान रूप से प्राप्त है? यदि जनेऊ धारण करना ज्ञान, अनुशासन और धार्मिक जीवन का प्रतीक है, तो क्या यह अधिकार व्यवहारिक रूप से सभी समुदायों को समान रूप से उपलब्ध है? यदि यह वास्तव में सभी के लिए समान रूप से खुला है, तो फिर व्यवहार में जनेऊ धारण करते हुए मुख्यतः कुछ विशेष जातियों के लोग ही क्यों दिखाई देते हैं? यह प्रश्न भी विचारणीय है कि ऐतिहासिक रूप से इस अधिकार को जाति के आधार पर सीमित क्यों रखा गया और ऐसी व्यवस्था को इतने लंबे समय तक संकीर्णता तथा पूर्वाग्रहों के साथ क्यों बनाए रखा गया? आज भी क्यों कुछ अनुसूचित जाति समुदायों से जुड़े समूह, जैसे चमार, वाल्मीकि, पासी और मुसहर, तथा अन्य समुदाय जैसे नाई, लोहार, कुम्हार, धोबी, भील और गोंड आदि में ऐतिहासिक रूप से जनेऊ (उपनयन) संस्कार सामान्य प्रथा नहीं रहा है। वर्तमान में इन समुदायों की स्थिति एक जैसी नहीं है। कुछ क्षेत्रों और परिवारों में आज भी उपनयन संस्कार प्रचलित नहीं है, जबकि कई स्थानों पर सामाजिक परिवर्तन, संस्कृतिकरण तथा धार्मिक सुधार आंदोलनों के प्रभाव से लोग जनेऊ धारण और उपनयन संस्कार का पालन करने लगे हैं। ऐसा सामाजिक जातीय भेदभाव प्रत्यक्ष और अप्रत्यक्ष रूप से देखने के बाद भी क्या अभी भी हम यह कह सकते हैं कि कानून नियम बनाने देने मात्रा से जाति पूर्वग्रह और संकीर्णता समाप्त हो गई है? यदि आपके जवाब में अभी भी संदेह है तो आगे पढ़ने पर उम्मीद है यह भी खत्म हो जाएगा

विवाह संस्कार,

विवाह संस्करण एक ऐसा मुख्य संस्करण जो जाती को बनाये रखने का सबसे महत्वपूर्ण साधन कहा जाए तो अतिश्योंक्ति नहीं होगी, आपको जानकर आश्चर्य होगा, जाति का वास्तविक आधार **एंडोगैमी (Endogamy)** है अर्थात् अपनी ही जाति में विवाह करने की परंपरा है। अथवा जाति इसलिए जीवित रहती है क्योंकि प्रत्येक जाति अपने भीतर विवाह करने पर जोर देती है और बाहर विवाह करने वालों का विरोध करती है। आंबेडकर जी का तर्क था कि यदि किसी समाज में लोग स्वतंत्र रूप से एक-दूसरे से विवाह करने लगें, तो जातियों के बीच की दीवारें धीरे-धीरे समाप्त होने लगेंगी। इसी कारण उन्होंने अंतर-जातीय विवाह को, जाति-व्यवस्था को समाप्त करने का सबसे प्रभावी और सबसे शक्तिशाली उपाय बताया। यह विचार डॉ. आंबेडकर के लिए कितना महत्वपूर्ण था, इसका अनुमान उनके द्वारा प्रस्तुत हिंदू कोड बिल(1947 से 1951) से लगाया जा सकता है। डॉ. आंबेडकर भली-भाँति समझते थे कि जब तक विवाह जाति की सीमाओं में बंधा रहेगा, तब तक जाति-व्यवस्था भी जीवित रहेगी। डॉ. आंबेडकर के लिए अंतर-जातीय विवाह कितना महत्वपूर्ण था, इसका अंदाज़ा 1947 से 1951 के बीच उनके द्वारा प्रस्तुत हिंदू कोड बिल से साफ लगाया जा सकता है।

संवाद – 5 : डॉ. आंबेडकर, अंतर-जातीय विवाह और हिंदू कोड बिल (1947–1951)

डॉ. अंबेडकर ने यह भली-भाँति समझ लिया था कि जब तक विवाह जाति की सीमाओं में कैद रहेगा, तब तक यह व्यवस्था भी जीवित रहेगी। यही कारण था कि हिंदू कोड बिल के माध्यम से उन्होंने विवाह की वैधता को जाति और उपजाति की बाध्यता से मुक्त करने का प्रयास किया तथा उन परंपरागत बाधाओं को चुनौती दी जो सदियों से समाज को जातियों में बाँटकर रखने का कार्य कर रही थीं। डॉ. आंबेडकर के अंतर-जातीय विवाह संबंधी विचारों को केवल इस प्रावधान तक सीमित करके नहीं देखा जा सकता कि विवाह करने वाले पक्षों की जाति या उपजाति भिन्न होने पर भी विवाह वैध माना जाएगा। हिंदू कोड बिल में कई ऐसे प्रावधान थे जो प्रत्यक्ष अथवा अप्रत्यक्ष रूप से जातिगत विवाह व्यवस्था को कमजोर करते थे। सबसे महत्वपूर्ण प्रावधान यह था कि प्रचलित हिंदू कानून में जहाँ एक वैध विवाह के लिए जाति और उपजाति की समानता को आवश्यक माना जाता था, वहीं हिंदू कोड बिल ने इस शर्त को समाप्त कर दिया। डॉ. आंबेडकर ने स्वयं कहा था:

"बिल के तहत शादी वैलिड होगी, चाहे शादी करने वाले लोगों की जाति या उपजाति कुछ भी हो।"

अर्थात् विवाह करने वाले पक्षों की जाति या उपजाति चाहे जो भी हो, विवाह वैध होगा।

इसके अतिरिक्त, हिंदू कोड बिल ने गोत्र और प्रवर संबंधी उन पारंपरिक बाधाओं को भी कमजोर किया जिन्हें कई स्थानों पर विवाह की वैधता से जोड़ा जाता था। आंबेडकर ने स्पष्ट किया था कि नए विधेयक में गोत्र-प्रवर की समानता विवाह में बाधक नहीं होगी।

हिंदू कोड बिल का एक अन्य महत्वपूर्ण पक्ष यह था कि उसने विवाह को केवल धार्मिक संस्कार न मानकर एक वैधानिक और नागरिक संस्था के रूप में भी स्वीकार किया। इससे विवाह की वैधता को जातिगत और परंपरागत नियंत्रण से आंशिक रूप से मुक्त करने का प्रयास हुआ।

एकपत्नी प्रथा (Monogamy), तलाक का अधिकार तथा स्त्रियों को अधिक वैधानिक अधिकार प्रदान करने जैसे प्रावधान भी पारंपरिक जाति-आधारित पारिवारिक संरचना को चुनौती देते थे। आंबेडकर का मानना था कि सामाजिक लोकतंत्र तब तक स्थापित नहीं हो सकता जब तक परिवार और विवाह संबंधी व्यवस्थाओं में समानता न आए।

यही कारण है कि डॉ. आंबेडकर अंतर-जातीय विवाह को केवल दो व्यक्तियों का निजी निर्णय नहीं, बल्कि जाति-व्यवस्था की जड़ों पर प्रहार करने वाला सामाजिक कदम मानते थे। उनके अनुसार जाति की सबसे बड़ी शक्ति एंडोगैमी अर्थात् अपनी ही जाति में विवाह करने की परंपरा है; इसलिए अंतर-जातीय विवाह जाति-व्यवस्था को कमजोर करने का सबसे प्रभावी साधन है।

परंतू संसद में बैठे रसूकदार राजेंताओं ने इस क्रांतिकारी बिल को पारित नहीं होने दिया और **27 सितम्बर 1951** — हिंदू कोड बिल को आगे न बढ़ाए जाने और लगातार टाले जाने के विरोध में आंबेडकर ने केंद्रीय मंत्रिमंडल से इस्तीफ़ा दे दिया। उन्होंने अपने इस्तीफे में और संसद के आखिरी संबोधन में इसका कारण हिंदू कोड बिल लेकर साफ बताया |

बाद में मूल हिंदू कोड बिल को कई अलग-अलग कानूनों में विभाजित कर पारित किया गया:

1. हिंदू मैरिज एक्ट, 1955 — 18 मई 1955

2. हिंदू सक्सेशन एक्ट, 1956 — 17 जून 1956

3. हिंदू माइनॉरिटी एंड गार्जियनशिप एक्ट, 1956 — 25 अगस्त 1956

4. हिंदू एडॉप्शन एंड मेंटेनेंस एक्ट, 1956 — 21 दिसंबर 1956

परंतू किसी भी बाद में पारित बिल में अंतर जातियों विवाह पर प्रत्याक्षता वे अप्रत्याक्षता रूप से जोर नहीं डाला गया जो अंबेडकर जी के जातियों के भेदभाव को खत्म करने के विचार को प्रोत्साहन दे | क्या यहां तात्कालिक सत्ताधारी सरकार की अंतर जातियों विवाह को व्यवस्था में लाने को लेकर झिझक साफ नहीं देखी जा सकती है?

परिणामस्वरूप वर्तमान भारत में आज भी विवाह वह क्षेत्र है जहाँ जाति का प्रभाव सबसे स्पष्ट रूप से दिखाई देता है। लाखों परिवार आज भी विवाह का निर्णय लेते समय सबसे पहले जाति देखते हैं। विवाह के विज्ञापनों से लेकर वैवाहिक वेबसाइटों तक, अधिकांश स्थानों पर जाति को प्रमुख आधार बनाया जाता है। अनेक परिवार अपनी जाति के बाहर विवाह को स्वीकार नहीं करते। कई मामलों में अंतर-जातीय विवाह करने वाले युवाओं को सामाजिक बहिष्कार, पारिवारिक दबाव, धमकियों और कभी-कभी हिंसा तक का सामना करना पड़ता है। जाति भेद-भाव में वास्तव में लोग विश्वास नहीं करते हैं तो विवाह के समय जाति पूछने की आवश्यकता ही नहीं रहती। लेकिन जब विवाह का सबसे महत्वपूर्ण मानदंड आज भी जाति बनी हुई है, तो यह प्रश्न उठना स्वाभाविक है कि क्या जाति-व्यवस्था वास्तव में समाप्त हुई है, या केवल उसका स्वरूप बदल गया है?

आइए जरा इस व्यवस्था की बदले स्वरूप और इसकी कट्टरता के कुछ उदाहरण देखते हैं:

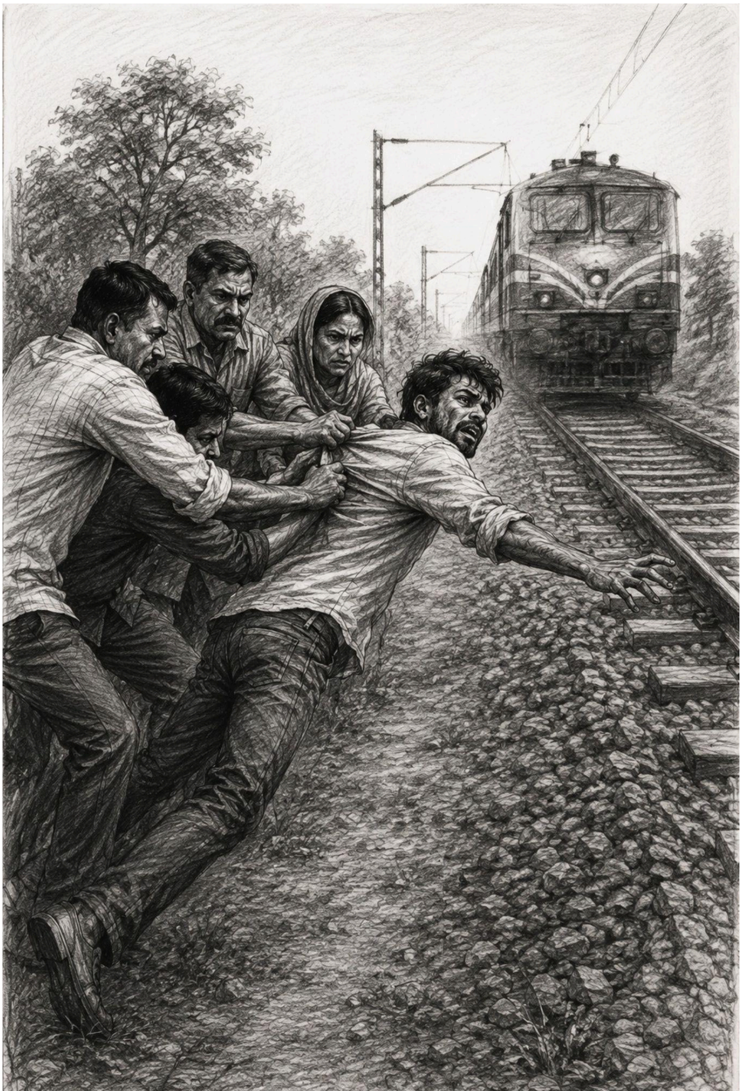

एक 24 वर्षीय दलित युवक गुलशन कुमार की कथित तौर पर "ऑनर किलिंग" में हत्या कर दी गई। पुलिस के मुताबिक युवक ने परिवार की मर्जी के खिलाफ अंतर-जातीय कोर्ट मैरिज की थी। आरोप है कि पत्नी के परिजनों ने उसे रेलवे ट्रैक के पास पकड़कर चलती ट्रेन के सामने धक्का दे दिया और मामले को आत्महत्या दिखाने की कोशिश की। पुलिस ने इस मामले में कई आरोपियों को गिरफ्तार किया।

जांच के अनुसार, 29 अप्रैल की रात गुलशन कुमार को बिजनौर के महमूदपुर रेलवे ट्रैक के पास रोक लिया गया। पुलिस का आरोप है कि वहाँ मौजूद आरोपियों ने उन्हें पकड़कर चलती ट्रेन के सामने धक्का दे दिया, जिससे उनकी मौके पर ही मौत हो गई। प्रारंभिक तौर पर इस घटना को आत्महत्या का रूप देने की कोशिश की गई, लेकिन पुलिस जांच में हत्या की आशंका सामने आई।

मामले की जांच के दौरान पुलिस ने युवती के भाई सहित कई आरोपियों को गिरफ्तार किया और उनके विरुद्ध हत्या तथा अन्य संबंधित धाराओं में मुकदमा दर्ज किया। पुलिस का कहना है कि अब तक की जांच के अनुसार यह हत्या अंतर-जातीय विवाह से नाराज़गी के कारण की गई प्रतीत होती है। मामले की आगे की जांच जारी है।

बिजनौर, उत्तर प्रदेश (मई 2026) — स्रोत: टाइम्स ऑफ इंडिया (Times of India)

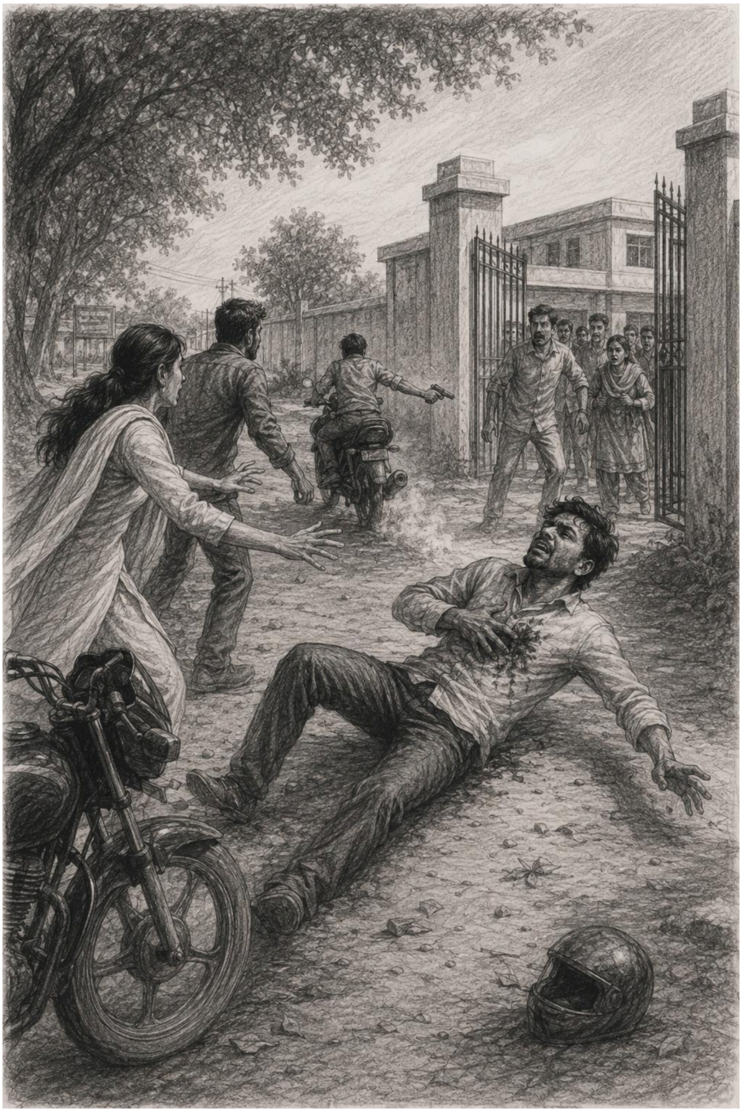

एक 24 साल के आदमी को कथित तौर पर एक एग्जाम सेंटर के बाहर गोली मार दी गई, जब वह अपनी पत्नी को UP पुलिस रिक्रूटमेंट एग्जाम दिलाने लाया था।

पुलिस और परिजनों के अनुसार, शिव कुमार और आकांक्षा ने लगभग चार महीने पहले प्रेम विवाह किया था। बताया जा रहा है कि यह विवाह युवती के परिवार की इच्छा के विरुद्ध हुआ था, जिसके बाद से दोनों को लगातार विरोध और तनाव का सामना करना पड़ रहा था।

घटना रामपुर मनिहारन स्थित गोचर इंटर कॉलेज के बाहर हुई, जहाँ आकांक्षा परीक्षा देने गई थीं। परीक्षा के दौरान कॉलेज के बाहर शिव कुमार पर गोली चलाई गई, जिससे उनकी मौके पर ही मृत्यु हो गई।

आकांक्षा ने आरोप लगाया कि घटना से पहले उसके भाई मंजीत का शिव कुमार के साथ विवाद हुआ था और उसी ने गोली चलाई। वहीं, पीड़ित परिवार का आरोप है कि यह हत्या प्रेम विवाह के कारण पहले से बनाई गई साजिश का हिस्सा थी।

उत्तर प्रदेश के सहारनपुर (जून 2026) (स्रोत: लल्लन टोपे न्यूज़ एजेंसी)

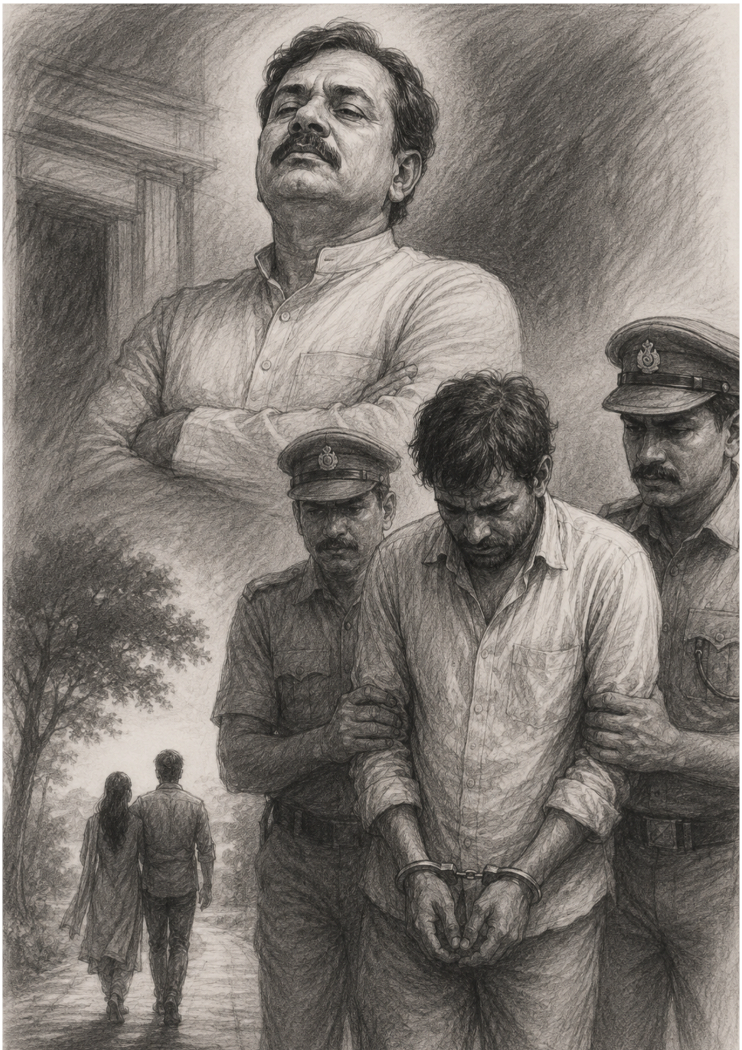

एक पिता ने अपने शान के लिए अपनी बेटी की हत्या की , जिसके आरोप में पिता को गिरफ्तार किया गया। पुलिस का कहना है कि वह अपनी बेटी के अंतर-जातीय प्रेम विवाह से लंबे समय से नाराज़ था और इसी विवाद के चलते उसने कथित तौर पर उसकी हत्या कर दी।पुलिस के अनुसार, युवती ने परिवार की इच्छा के विरुद्ध अंतर-जातीय प्रेम विवाह किया था। बताया जा रहा है कि पिता इस विवाह से लंबे समय से नाराज़ था और इसी को लेकर परिवार में लगातार विवाद चल रहा था।

जांच के दौरान पुलिस ने आरोप लगाया कि इसी विवाद के चलते पिता ने कथित तौर पर अपनी बेटी की हत्या कर दी। घटना के बाद पुलिस ने आरोपी को गिरफ्तार कर उसके विरुद्ध हत्या सहित संबंधित धाराओं में मामला दर्ज किया।

कल्याण, महाराष्ट्र (जून 2026) — स्रोत: इंडिया टुडे (India Today)

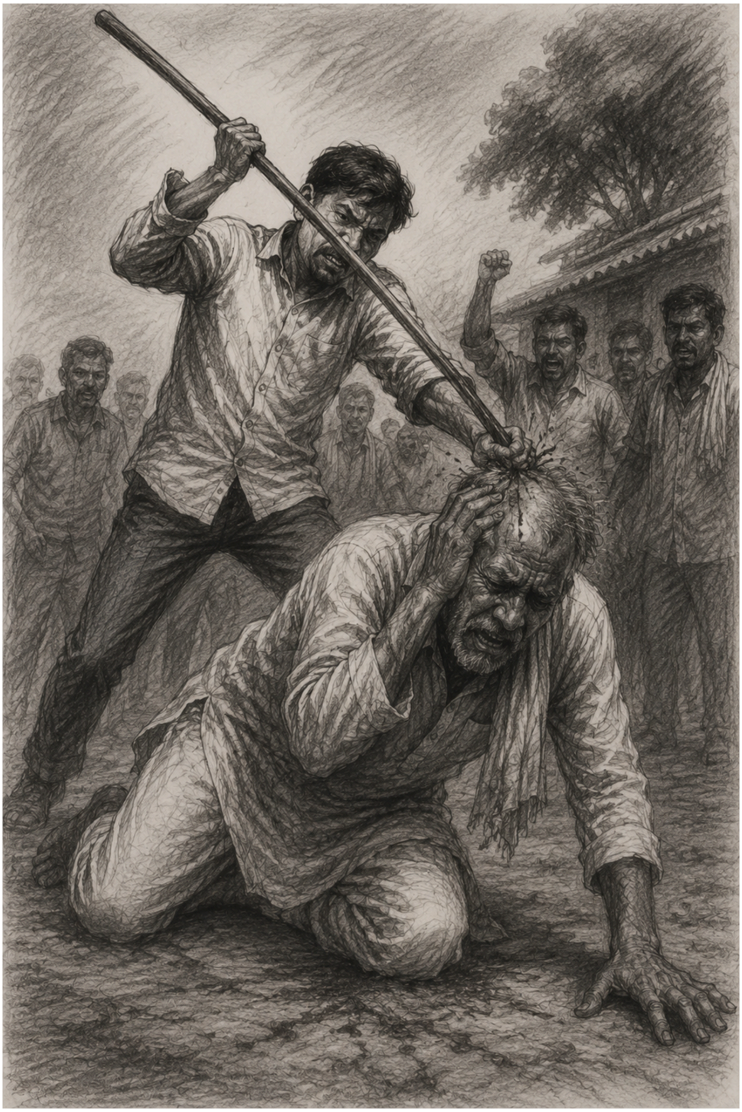

एक 52 वर्षीय दलित व्यक्ति की कथित तौर पर पीट-पीटकर हत्या कर दी गई। शुरुआती पुलिस जांच के मुताबिक इस हत्या का संबंध उसके बेटे के अंतर-जातीय विवाह से था। परिवार का आरोप है कि शादी को लेकर चली आ रही नाराज़गी ही इस हमले की वजह बनी।

पुलिस की शुरुआती जांच के अनुसार, इस घटना का संबंध उनके बेटे के अंतर-जातीय विवाह से जोड़ा जा रहा है। परिवार का आरोप है कि इस विवाह को लेकर लंबे समय से चली आ रही नाराज़गी और विवाद के कारण उन पर हमला किया गया।

घटना के बाद घायल व्यक्ति को अस्पताल ले जाया गया, जहाँ उपचार के दौरान उनकी मृत्यु हो गई। पुलिस ने मामला दर्ज कर जांच शुरू कर दी है और संबंधित आरोपियों की भूमिका की जांच की जा रही है।

अहमदाबाद, गुजरात (मई 2026) — स्रोत: टाइम्स ऑफ इंडिया (Times of India)

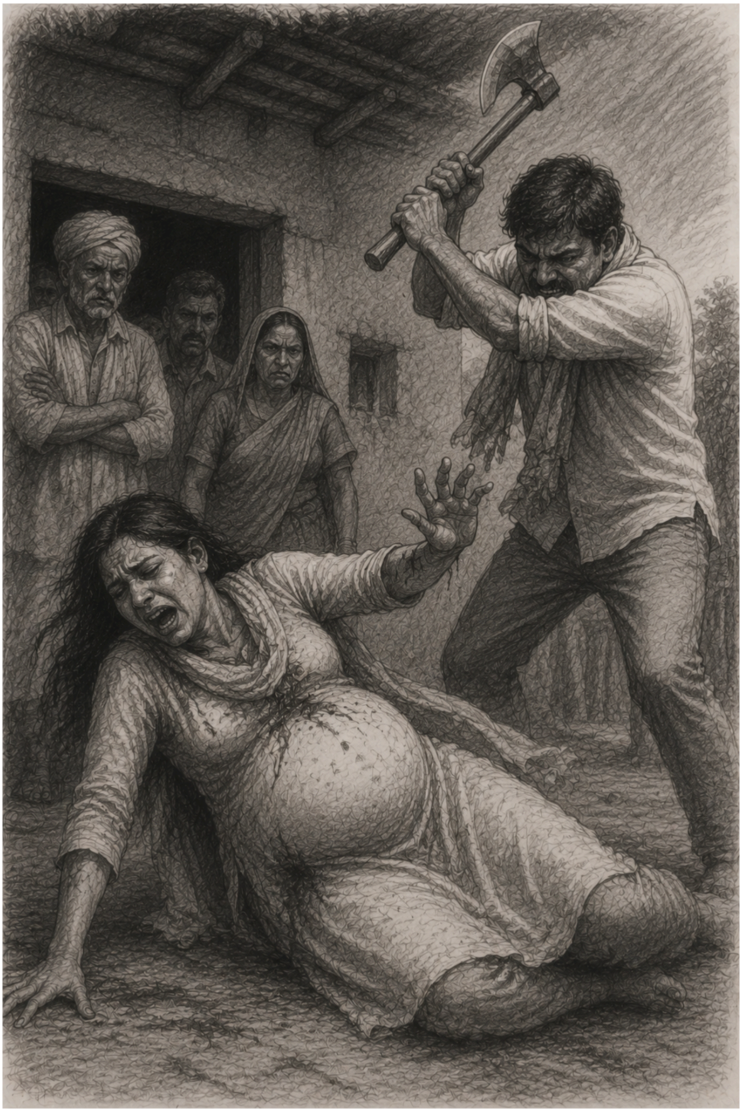

एक चार महीने की गर्भवती महिला पर उसके भाई ने कथित तौर पर कुल्हाड़ी से हमला कर दिया। महिला ने अपनी पसंद से दूसरी जाति के युवक से शादी की थी, जिसका परिवार विरोध कर रहा था। पुलिस ने इसे अंतर-जातीय विवाह से जुड़ा मामला बताया।

पुलिस के अनुसार, महिला ने अपनी पसंद से दूसरी जाति के युवक से विवाह किया था। बताया जा रहा है कि इस विवाह का परिवार लंबे समय से विरोध कर रहा था, जिसके कारण दोनों पक्षों के बीच लगातार तनाव बना हुआ था।

जांच के अनुसार, इसी विवाद के दौरान महिला पर कथित तौर पर कुल्हाड़ी से हमला किया गया। हमले में वह गंभीर रूप से घायल हो गई, जिसके बाद उसे उपचार के लिए अस्पताल में भर्ती कराया गया।

कोप्पल, कर्नाटक (फरवरी 2026) – हत्या का प्रयास — स्रोत: टाइम्स ऑफ इंडिया (Times of India)

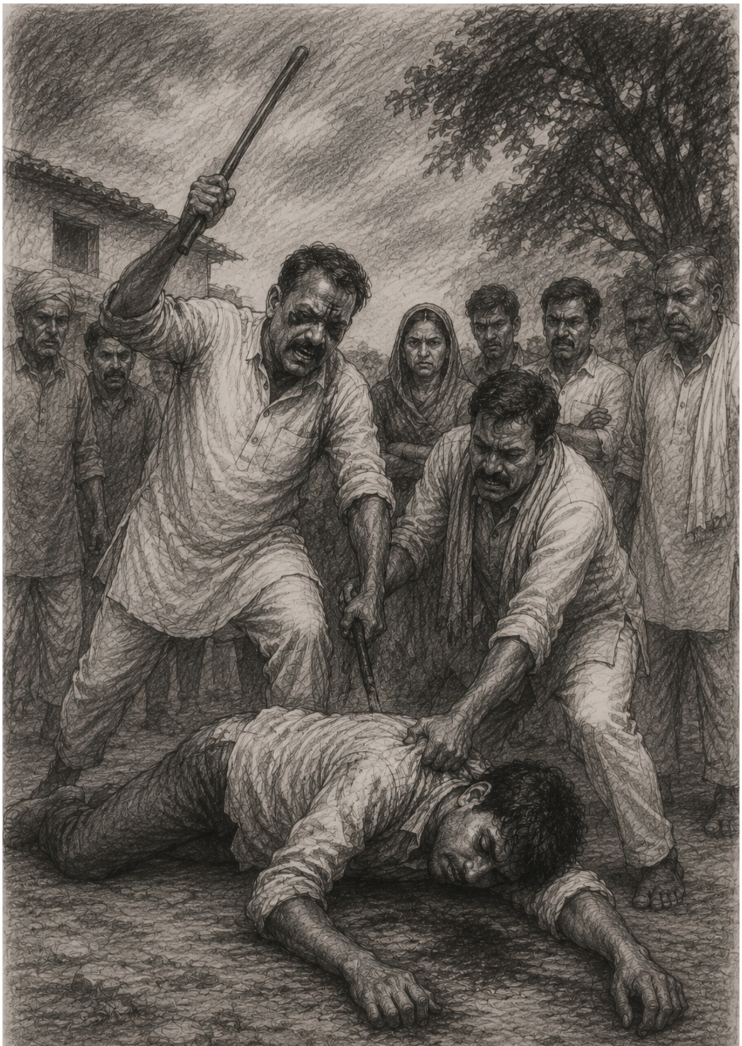

एक 26 वर्षीय युवक की कथित तौर पर हत्या कर दी गई। पुलिस के मुताबिक प्रेम विवाह का विरोध करने वाले रिश्तेदारों की भूमिका सामने आई और कई लोगों को गिरफ्तार किया गया।

युवक ने अपनी पसंद से प्रेम विवाह किया था। प्रारंभिक जांच में यह सामने आया कि इस विवाह का कुछ रिश्तेदार विरोध कर रहे थे और इसी विवाद के चलते हत्या की साजिश रचे जाने की आशंका व्यक्त की गई।

जांच के दौरान पुलिस ने कई संदिग्धों से पूछताछ की और उपलब्ध साक्ष्यों के आधार पर कई आरोपियों को गिरफ्तार किया। पुलिस का कहना है कि अब तक की जांच में प्रेम विवाह का विरोध इस घटना का प्रमुख कारण प्रतीत होता है।

हैदराबाद, तेलंगाना (जून 2026) — स्रोत: टाइम्स ऑफ इंडिया (Times of India)

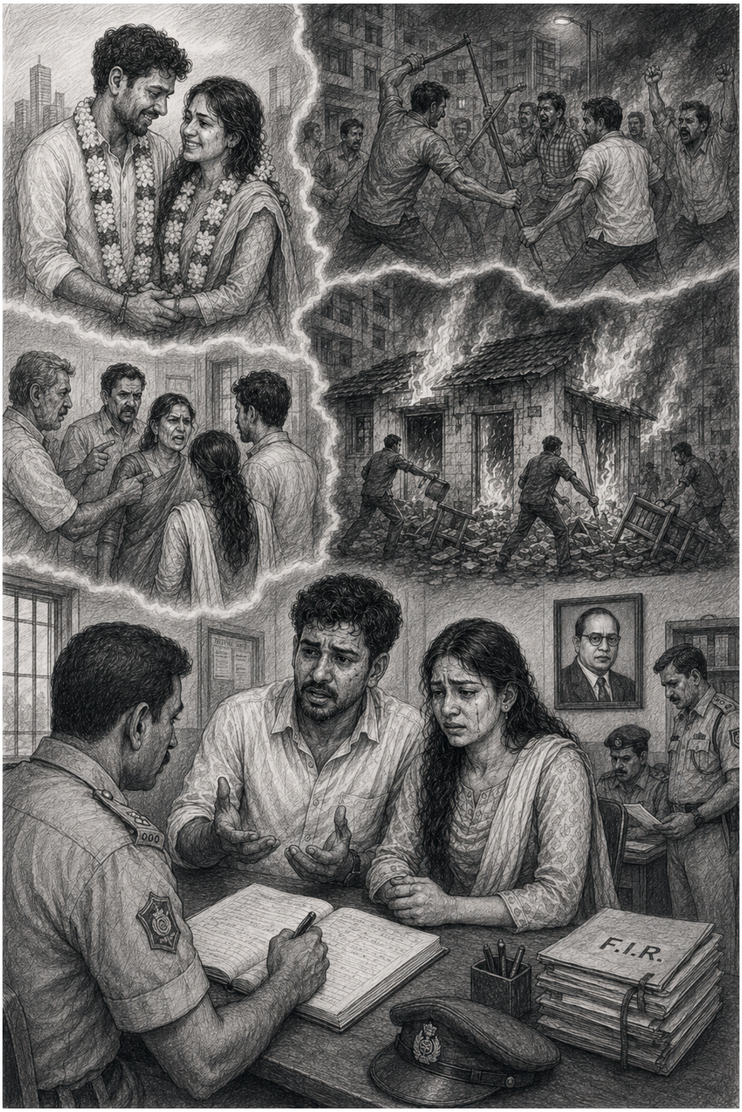
F.I.R.

एक अनुसूचित जाति (SC) के युवक ने दूसरी जाति की महिला से शादी की थी। इसके बाद महिला के परिजनों पर युवक के घर में तोड़फोड़ करने और आग लगाने का आरोप लगा। पुलिस ने SC/ST अत्याचार निवारण अधिनियम के तहत मामला दर्ज किया

पीड़ित परिवार की शिकायत के आधार पर पुलिस ने मामला दर्ज कर जांच शुरू की। प्रारंभिक जांच में घटना को अंतर-जातीय विवाह के बाद उत्पन्न हुए विवाद से जुड़ा बताया गया।

पुलिस ने इस मामले में भारतीय न्याय संहिता (BNS) की संबंधित धाराओं के साथ-साथ अनुसूचित जाति एवं अनुसूचित जनजाति (अत्याचार निवारण) अधिनियम के तहत भी मामला दर्ज किया है। अधिकारियों का कहना है कि घटना में शामिल सभी आरोपों की जांच की जा रही है और साक्ष्यों के आधार पर आगे की कानूनी कार्रवाई की जाएगी।

तेलंगाना (फरवरी 2026) – हमला और आगजनी — स्रोत: द न्यू इंडियन एक्सप्रेस

(The New Indian Express)

क्या वाकई देश में लोग जातीय भेद-भाव नहीं मानते?

जरा सोचिए, यदि वाकाई देश में लोग जातियां भेदभाव नहीं मानते है इंसान को इंसान समझते हैं तो यह खबरें?और यहां तो केवल कुछ उदाहरण मात्र है जतिये स्तार पर घटनाओं की विशालता इससे कई गुना अधिक है। इसे यह बात तय हो जाती है कि देश में जातीय स्तर पर लोग भेदभाव केवल मानते ही नहीं, बल्कि उसे कट्टरता से लोग मन में बिठाए हुए भी हैं |

आश्चर्य की बात तो ये है कि ये घटनाएं तब देखने को मिल रही हैं जब भारत जैसे देश का संवैधानिक मूल आधार ही लोगों में भाईचारा और जातियों के आधार पर हो रहे इस भेदभाव को कम करना है | ये खबरें इस देश की व्यवस्था पर और साथ-साथ इस धर्म की जातीय व्यवस्था पर गहरा सावल उठाती हैं? यदि नहीं, तो क्यों यह जातीय व्यवस्था अपने पूर्वाग्रहों से बाहर नहीं आ पाई है? क्यों ये धर्म के लोग आज भी इस बटवारे वाली व्यवस्था के साथ जी रहे है? क्यों ये धर्म के लोगो को एक-दूसरे को सामान जातीय नज़रों नहीं देखते क्यो ये धर्म के लोग झूठी भचारे के साथ एक दूसरे के सामने खड़े होकर हस्ते और बात करते है ? इस धर्म के लोग क्यों इस जातीय व्यवस्था के साथ आज भी जी रहे हैं जो पुरानी व्यवस्था और बंटवारे को हर वक़्त हमारे नाम के बाद सबसे पहले हमारे दिमाग में लाता है वह जातिसूचक शब्द! क्यों आज भी पूरे भारत में कहीं भी जब किसी हिंदू से उसका नाम पूछा जाता है तब तुरंत बंद ही उससे उसकी जाति भी पूछी जाती है ? क्यों किसी सिख, मुस्लिम और बौद्ध अथवा हिंदू धर्म के आवला अन्य किसी भी धर्म के व्यक्ति से उसका नाम पूछने के बाद उसकी जाति पूछना उतना अनिवार्य नहीं लगता? क्यों केवल हिंदू समाज में ही इतनी बड़ी स्तर पर जातिगत विभाजन देखने को मिलता है? तो क्या हम यह नही कह सकते हैं कि **“हम इस भारत के लोग (WE THE PEOPLE OF INDIA) बटे हुए जातियों के आधार पर हर तरह से?”**

तो क्या यह उस ऐतिहासिक व्यवस्था की निरंतरता नहीं है जिसकी आलोचना बाबा साहेब आंबेडकर ने की थी? आखिर ऐसा क्यों है कि छुआछूत जैसी अमानवीय और कठोर प्रथा तो पहले के मुकाबले काफी हद तक कमजोर पड़ गई, लेकिन जाति व्यवस्था आज भी भारतीय समाज में अपनी जड़ें जमाए हुए है? जबकि संविधान ने छुआछूत और जाति के आधार पर होने वाले भेदभाव, दोनों को ही अस्वीकार किया है। फिर भी जाति आज भी लोगों की सोच, शादी-विवाह, सामाजिक संबंधों और राजनीति पर इतना गहरा प्रभाव क्यों रखती है?"

अथवा यह प्रश्न सवाभाविक रूप से मन में उठता की ,

संवाद – 6 : छुआछूत अधिक कठोर या जाति व्यवस्था तथा संविधान का संशोधन का प्रश्न?

इन सवालों के जवाब पहली नज़र में भले ही कठिन और असुविधाजनक लगें, लेकिन सच्चाई यह है कि इनके उत्तर मौजूद हैं। आवश्यकता केवल इतनी है कि हम स्थापित धारणाओं के बजाय वास्तविक तथ्यों और सत्य का सामना करने का साहस रखें।आइये इन सवालों के जवाब ढूंढने का प्रयास करें,

इस प्रश्न को समझने के लिए सबसे पहले एक काल्पनिक उदाहरण पर विचार करना आवश्यक है।

मान लीजिए कि आज से हजारों वर्ष पहले एक व्यापारी परिवार था, जिसका व्यवसाय तलवारों और अन्य घातक औजारों का निर्माण एवं व्यापार करना था। उस परिवार में एक ऐसी धार्मिक प्रथा प्रचलित थी, जिसके अनुसार व्यापार की शुद्धि, उन्नति और समृद्धि के लिए प्रत्येक वर्ष बलि दी जाती थी। परिवार का विश्वास था कि यदि उनके द्वारा निर्मित तलवारों और औजारों से नरबलि दी जाए, तो उनके आराध्य देवता प्रसन्न होते हैं और व्यापार निरंतर फलता-फूलता रहता है।

इसी विश्वास के कारण वह परिवार पीढ़ी-दर-पीढ़ी हजारों वर्षों तक नरबलि देता रहा। परिवार की दृष्टि में यह केवल एक धार्मिक अनुष्ठान नहीं था, बल्कि उनके व्यापार की सफलता और समृद्धि का आधार था।

अब वर्तमान समय की कल्पना कीजिए।

समय बदल चुका है। समाज, कानून और नैतिक मूल्य विकसित हो चुके हैं। वह परिवार आज भी अपने पूर्वजों का वही व्यवसाय कर रहा है। उसका व्यापार पूरे देश में प्रसिद्ध है, वह सरकार को भारी कर (टैक्स) देता है, और आर्थिक रूप से अत्यंत समृद्ध है।

किन्तु जब उस परिवार ने अपनी प्राचीन परंपरा के अनुसार नरबलि देने की अनुमति मांगी, तो राज्य और न्यायपालिका के सामने एक गंभीर प्रश्न खड़ा हो गया।

परिवार ने तर्क दिया:

"यह केवल एक प्रथा नहीं, बल्कि हमारी हजारों वर्षों पुरानी आस्था है। हमारे पूर्वज इसी परंपरा का पालन करते आए हैं। हमारे व्यापार की सफलता इसी से जुड़ी हुई है। इसलिए हमें इसे जारी रखने का अधिकार होना चाहिए।"

अब मान लीजिए कि न्यायालय ने संविधान द्वारा प्रदत्त धार्मिक स्वतंत्रता का सम्मान करते हुए यह निर्णय दिया कि परिवार नरबलि नहीं दे सकता, क्योंकि किसी मनुष्य की हत्या संविधान और कानून दोनों के विरुद्ध है। लेकिन न्यायालय ने उन्हें पशुबलि देने की अनुमति दे दी।

परिवार इस निर्णय से पूरी तरह संतुष्ट नहीं हुआ। उसका मानना था कि पशुबलि, नरबलि का वास्तविक विकल्प नहीं है। समय-समय पर जब उसका व्यापार अपेक्षित रूप से नहीं चलता, तो परिवार के कुछ सदस्यों के मन में यह विचार पुनः उत्पन्न होने लगता है कि "यदि वास्तविक नरबलि दी जाती, तो शायद व्यापार अधिक सफल होता।"

अब कुछ महत्वपूर्ण प्रश्न उत्पन्न होते हैं:

1. क्या न्यायालय द्वारा दिया गया यह निर्णय वास्तव में उचित था?
2. क्या किसी धार्मिक प्रथा को केवल इसलिए जारी रखा जाना चाहिए क्योंकि वह प्राचीन है? और क्या किसी प्रथा का केवल स्वरूप बदल देने मात्र से उसकी अमानवीय प्रकृति बदल जाती है?

3. क्या यह निर्णय एक ऐसी परंपरा को अप्रत्यक्ष रूप से वैधता प्रदान नहीं करता, जिसकी मूल भावना हिंसा और बलि पर आधारित है?

4. यदि किसी प्रथा की जड़ ही मनुष्य की बलि जैसी अमानवीय अवधारणा में हो, तो क्या उसके किसी परिवर्तित रूप को भी स्वीकार किया जाना चाहिए?

5. क्या पशुबलि की अनुमति देकर न्यायपालिका ने उस मूल अंधविश्वास को पूरी तरह समाप्त किया, या केवल उसका स्वरूप बदल दिया?

6. क्या इससे उस परिवार के मन में यह विश्वास जीवित नहीं रह जाता कि बलि देना किसी न किसी रूप में उचित और आवश्यक है?

7. यदि भविष्य में परिवार के कुछ लोग गुप्त रूप से पुनः नरबलि देने का प्रयास करें, तो क्या यह समाज और नागरिकों की सुरक्षा के लिए खतरा नहीं होगा?

8. क्या राज्य का दायित्व केवल हिंसा को नियंत्रित करना है, या ऐसी हिंसक एवं अमानवीय मान्यताओं को पूरी तरह समाप्त करना भी है?

9. क्या किसी भी लोकतांत्रिक और संवैधानिक व्यवस्था में ऐसी परंपराओं को, जो मानव गरिमा, जीवन के अधिकार और सार्वजनिक सुरक्षा के विरुद्ध हों, पूर्णतः निषिद्ध नहीं कर दिया जाना चाहिए?

10. क्या केवल "आस्था" होने मात्र से किसी प्रथा को संरक्षण मिल जाना चाहिए, भले ही उसकी उत्पत्ति और आधार हिंसा पर टिका हो?

अब इसी उदाहरण को जाति व्यवस्था के संदर्भ में समझिए

मान लीजिए कि हजारों वर्ष पहले एक ऐसी सामाजिक व्यवस्था स्थापित की गई, जिसका आधार मनुष्य के गुण, कर्म, प्रतिभा या चरित्र नहीं, बल्कि केवल उसका जन्म था। जन्म लेते ही किसी को श्रेष्ठ घोषित कर दिया जाता था और किसी को निम्न। किसी को सम्मान, अधिकार, शिक्षा और सत्ता का स्वाभाविक अधिकारी माना जाता था, जबकि किसी को अपमान, अधीनता, बहिष्कार और वंचना का भागीदार बना दिया जाता था।

समय के साथ यह व्यवस्था केवल सामाजिक संगठन का साधन नहीं रही, बल्कि मनुष्यों के बीच स्थायी ऊँच-नीच, श्रेष्ठता और हीनता की मानसिकता को वैधता प्रदान करने वाली संरचना बन गई। इसने करोड़ों लोगों को यह विश्वास दिलाया कि कुछ मनुष्य जन्म से सम्मान के अधिकारी हैं और कुछ जन्म से अपमान सहने के लिए बने हैं।

सदियों तक इस व्यवस्था के नाम पर लोगों को शिक्षा से वंचित रखा गया, सामाजिक अवसरों से दूर रखा गया, सार्वजनिक जीवन में भागीदारी से रोका गया, और अनेक स्थानों पर उन्हें मानवोचित गरिमा तक से वंचित किया गया। यह केवल सामाजिक भेदभाव नहीं था; यह मनुष्य की समानता और उसकी जन्मजात गरिमा के विरुद्ध खड़ी एक ऐसी संरचना थी, जिसने पीढ़ी-दर-पीढ़ी असमानता को सामान्य बनाये

रखा **यह मानवता का बलि देना जैसा नहीं है जैसे उनके मानवता से जीने के सरे अधिकार छीन लिए गए हो?**

अब वर्तमान समय की कल्पना कीजिए।

देश का संविधान स्पष्ट रूप से कहता है कि सभी नागरिक समान हैं। किसी के साथ धर्म, जाति, लिंग, जन्मस्थान या अन्य आधारों पर भेदभाव नहीं किया जाएगा। संविधान का आदर्श स्वतंत्रता, समानता और बंधुत्व है।

किन्तु प्रश्न यह है—

क्या वास्तव में ऐसी व्यवस्था को जीवित रखा जाना चाहिए, जिसने हजारों वर्षों तक मनुष्यों के बीच ऊँच-नीच की भावना को संस्थागत रूप दिया हो?

क्या केवल संविधान में समानता का सिद्धांत लिख देने **से उस मानसिकता का अंत हो जाता है**, जो सदियों से लोगों को जन्म के आधार पर अलग-अलग श्रेणियों में बाँटती रही है?

क्या कुछ कानूनी प्रावधान बना देने मात्र से उस व्यवस्था की ऐतिहासिक कठोरता समाप्त हो जाती है, जिसने अनगिनत लोगों को सामाजिक रूप से निम्न, अयोग्य या अस्पृश्य समझे जाने की पीड़ा दी? क्या यह मान लेना पर्याप्त है कि संविधान के अनुच्छेदों में समानता और बंधुत्व लिख दिए जाने से जातिगत विभाजन की जड़ें स्वतः सूख जाएँगी?

जब किसी व्यवस्था का मूल दर्शन ही मनुष्यों को जन्म के आधार पर वर्गीकृत करना रहा हो, तब क्या केवल उसके दुष्परिणामों पर रोक लगाना पर्याप्त है, या उसके आधारभूत सिद्धांतों की वैधता पर भी प्रश्न उठाया जाना चाहिए?

क्या किसी राष्ट्र में वास्तविक बंधुत्व स्थापित हो सकता है, जबकि समाज के भीतर जन्म-आधारित पहचान और श्रेणीकरण की अवधारणा बनी रहे?

और सबसे गंभीर प्रश्न—

क्या संविधान का उद्देश्य केवल जातिगत भेदभाव के कुछ रूपों को नियंत्रित करना है, या उन सभी सामाजिक और वैचारिक संरचनाओं को चुनौती देना भी है, जो मनुष्यों के बीच जन्म के आधार पर असमानता को जीवित रखती हैं?

यदि किसी व्यवस्था का ऐतिहासिक परिणाम सामाजिक विभाजन, अपमान, बहिष्कार और असमानता रहा हो, तो क्या उसे केवल इसलिए स्वीकार किया जाना चाहिए क्योंकि वह प्राचीन है?

क्या किसी प्रथा की प्राचीनता उसे न्यायसंगत बना देती है?

या उसका मूल्यांकन इस आधार पर होना चाहिए कि उसने मानव गरिमा, समानता और सामाजिक एकता को कितना सशक्त या कितना क्षतिग्रस्त किया है?

मान लिया जाए कि वर्तमान समय में अधिकांश लोग प्रत्यक्ष रूप से जातिगत भेदभाव नहीं करना चाहते। किन्तु प्रश्न यह है कि क्या जाति-सूचक उपनामों (सरनेम) का निरंतर प्रयोग स्वयं में लोगों को एक-दूसरे की जातिगत पहचान से अवगत नहीं कराता?

क्या किसी व्यक्ति के नाम के साथ जुड़ा जाति-सूचक शब्द यह जानने की उत्सुकता उत्पन्न नहीं करता कि सामने वाला व्यक्ति किस जाति से संबंधित है, उसकी सामाजिक स्थिति क्या है, और पारंपरिक जातिगत पदानुक्रम में उसका स्थान कहाँ माना जाता रहा है?

यदि किसी समाज में जन्म-आधारित पहचान को नाम के माध्यम से निरंतर सार्वजनिक रूप से प्रदर्शित किया जाता रहे, तो क्या यह कहना उचित होगा कि जाति केवल एक निष्क्रिय पहचान है और उसका सामाजिक व्यवहार पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता?

क्या यह तथ्य नहीं है कि जाति-सूचक पहचानें लोगों के मन में "अपना" और "पराया", "ऊँचा" और "नीचा", "समान" और "असमान" जैसी धारणाओं को जीवित रखने का माध्यम बन सकती हैं? यदि संविधान का उद्देश्य नागरिकों की पहचान को उनके जन्म से नहीं, बल्कि उनकी समान नागरिकता से जोड़ना है,

तो क्या जन्म-आधारित जातिगत पहचान का निरंतर सार्वजनिक प्रदर्शन उस उद्देश्य के विपरीत नहीं जाता? क्या यह विचारणीय नहीं है कि जहाँ जाति की पहचान निरंतर प्रदर्शित होती रहे, वहाँ जातिगत भेदभाव की संभावना भी पूर्णतः समाप्त नहीं हो सकती, क्योंकि भेदभाव का पहला आधार ही व्यक्ति की जातिगत पहचान का ज्ञान होता है?

तो जब किसी व्यक्ति की जाति उसके नाम से ही प्रकट हो जाती है, तब क्या यह व्यवस्था वास्तव में जातिगत चेतना को कमजोर करती है, या फिर अनजाने में उसे पीढ़ी-दर-पीढ़ी जीवित रखने का कार्य करती है? क्या केवल कानूनी रूप से जातियों को लेकर कुछ प्रावधान कर देने मात्र से लोग लोग वास्तविक रूप से जातियों के पूर्वाग्रा से बहार आभी पाये है?

मेरे मत से इसका उत्तर है बिलकुल भी बहार नाही आये है और नाही आना चाहते है, **कारण स्पष्ट है। जिस प्रकार हमने उस व्यापारी परिवार के उदाहरण में देखा कि कानून ने उस अमानवीय प्रथा को पूर्णतः समाप्त करने के बजाय धार्मिक आस्था और संवैधानिक स्वतंत्रता का आधार मानते हुए उसे एक प्रकार की ढिलाई प्रदान कर दी और उस प्रथा को बनाये रखने की इजाजत भी दी । परिणामस्वरूप वह परिवार आज भी किसी न किसी रूप में उस प्रथा का पालन करता आ रहा है।**

क्या यह निश्चित रूप से कहा जा सकता है कि वह परिवार आज भी छिपकर मनुष्यों की बलि देने का प्रयास नहीं करता होगा? क्या न्याय व्यवस्था द्वारा दी गई उस ढिलाई ने उस प्रथा को जीवित बनाए रखने में भूमिका नहीं निभाई?

ठीक उसी प्रकार, जातिवाद को भी वर्तमान न्याय व्यवस्था और संवैधानिक ढाँचे ने पूर्णतः समाप्त करने के बजाय काफी हद तक सामाजिक और धार्मिक आस्थाओं से जुड़ा विषय मानकर उसके मूल ढाँचे को बने रहने दिया।

जबकि यह व्यवस्था हजारों वर्षों से समाज में गहरी दरारें पैदा करने, मनुष्यों के बीच ऊँच-नीच की भावना बनाए रखने और बंधुत्व की भावना को कमजोर करने का एक प्रभावशाली माध्यम रही है।

संविधान का एक मूल आधार बंधुत्व (Fraternity) है, किन्तु जन्म-आधारित जातिगत पहचान और सामाजिक विभाजन की व्यवस्था के बने रहने से यह आदर्श निरंतर चुनौती का सामना करता रहा है।

इन परिस्थितियों के बावजूद, संविधान ने अनुच्छेद 15 में यह घोषित कर दिया कि —

"राज्य किसी भी नागरिक के विरुद्ध केवल धर्म, मूलवंश, जाति, लिंग या जन्मस्थान के आधार पर भेदभाव नहीं करेगा।"

किन्तु प्रश्न यह है कि क्या केवल भेदभाव पर प्रतिबंध लगा देना पर्याप्त है, जबकि उस भेदभाव को जन्म देने वाली सामाजिक संरचना और मानसिकता स्वयं यथावत बनी रहे? क्या केवल संवैधानिक घोषणा कर देने मात्र से जातिगत चेतना और उससे उत्पन्न पूर्वाग्रह समाप्त हो जाते हैं?

संभवतः यही कारण है कि आज भी जातीय तनाव, जातिगत भेदभाव, सामाजिक बहिष्कार, सम्मान के नाम पर हिंसा और जाति-आधारित संघर्ष समाज में देखने को मिलते हैं।

जिस प्रकार उपरोक्त उदाहरण में कानून द्वारा दी गई ढिलाई के कारण वह अमानवीय प्रथा किसी न किसी रूप में जीवित बनी रही, उसी प्रकार यह तर्क दिया जा सकता है कि जाति व्यवस्था भी अपने मूल स्वरूप के अनेक तत्वों के साथ आज तक समाज में प्रभावी बनी हुई है।

तो ये सवाल की जाती व्यवस्था लोगो के बीच क्यों इतनी जटिलता से बनी हुई है और लोगो की मानशिकता को किसी तरह से प्रभावित करते हुए आ रही है इसका जवाब स्पष्ट रूप से उप्रोक्ता तर्कों वे तथ्यों से मिलता है**, और उपरोक्त तर्कों से यह भी सिद्ध हो जाता है कि, क्योंकि छुआ-छूत के लिए भारतीय संविधान में प्रत्यक्ष रूप से अनुच्छेद-17 जोड़ा गया और उसके लिए दण्डनीय प्रत्यक्ष कानून व्यवस्था बनाई गई है, इसीलिए छुआ-छूत भारत के कई विशाल हिस्सों में देखने को नहीं मिलता है।**

अब स्वाभाविक रूप से आपके मन में यह प्रश्न उठ रहा होगा कि आखिर इस समस्या का समाधान क्या हो सकता है? आइये उसको समझते है..

उपरोक्त सभी निष्कर्षों, उत्तरों और तर्कों से जो हमने अभी निकाले हैं, उन्हें ध्यान में रखते हुए मेरे मतानुसार, वे सभी मौलिक तत्व जो जाति-आधारित व्यवस्था को कमजोर करने तथा उसे समाप्त करने की दिशा में प्रभावी भूमिका निभाते हैं, उन्हें पूर्ण एवं स्पष्ट संवैधानिक स्वीकृति प्रदान की जानी चाहिए। इस प्रकार की स्वीकृति और उससे संबंधित सिद्धांतों को भारतीय संविधान के भाग–III (मौलिक अधिकार) में स्पष्ट, सुसंगत और निर्णायक रूप से वर्णित किया जाना आवश्यक है:

1. कि प्रत्येक नागरिक को यह मौलिक अधिकार हो कि वह किसी भी प्रकार की जन्म-आधारित जातिगत पहचान को स्वीकार अथवा अस्वीकार करने के लिए स्वतंत्र हो तथा किसी भी व्यक्ति की जाति का निर्धारण उसके जन्म के आधार पर स्वतः या अनिवार्य रूप से नहीं माना जाए, और न ही जन्म के आधार पर किसी भी जातिगत पहचान को उस पर बाध्यकारी रूप से आरोपित किया जाए। और इस आधार पर किसी भी प्रकार का सामाजिक या कानूनी दायित्व उस पर आरोपित नहीं किया जाए।

2. प्रत्येक नागरिक को यह मौलिक अधिकार हो कि वह अपनी इच्छा, स्वतंत्र निर्णय एवं व्यक्तिगत चयन के आधार पर विवाह कर सके, जिसमें अपने जीवनसाथी के चयन की पूर्ण स्वतंत्रता (Right to Choice Marriage) सम्मिलित हो अथवा अंतर-जातीय विवाह

(Inter-Caste Marriage) को स्पष्ट रूप से संवैधानिक संरक्षण प्रदान किया जाए तथा किसी भी प्रकार का प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष सामाजिक, धार्मिक अथवा पारिवारिक दबाव इस अधिकार के प्रयोग में बाधा नहीं बन सके।

3. **राज्य किसी भी ऐसी परंपरा, प्रथा या सामाजिक संरचना को संरक्षण प्रदान नहीं करेगा, जो जाति-आधारित विभाजन, ऊँच-नीच या सामाजिक असमानता को प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से बनाए रखने में सहायक हो।**

4. **ऐसे सभी कार्य, दबाव या सामाजिक प्रथाएँ जो नागरिक की विवाह स्वतंत्रता (Right to Choice Marriage) या अंतर-जातीय विवाह के अधिकार में बाधा उत्पन्न करें, उन्हें विधि द्वारा दंडनीय अपराध घोषित किया जाएगा।**

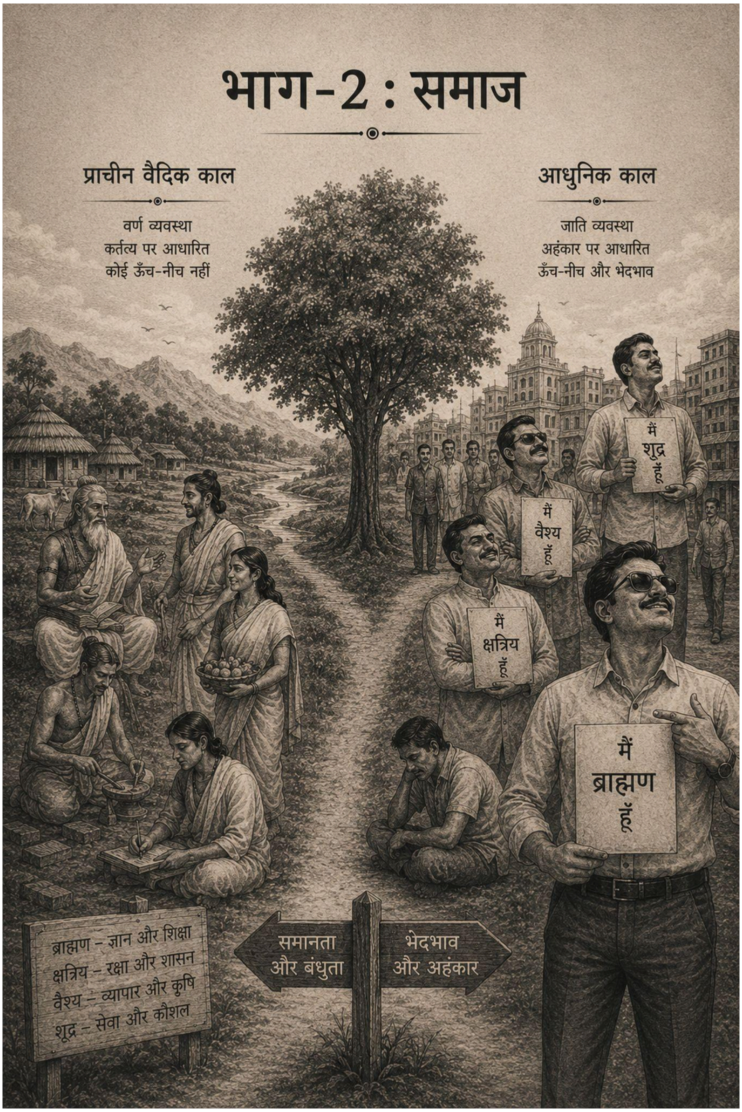

"क्या वास्तव में भारत की कोई भी जाति श्रेष्ठ हो सकती है?"

संवाद -1 : भारतीय समाज और उसकी जातीय व्यवस्था

भारत जैसे विशाल देश में, जहाँ हिंदू धर्म करोड़ों लोगों के जीवन, संस्कृति और सामाजिक व्यवहार को प्रभावित करता है, वहाँ एक प्रश्न बार-बार मन को उद्वेलित करता है—क्या जाति व्यवस्था वास्तव में हिंदू धर्म की इतनी मूलभूत और पवित्र व्यवस्था है कि उसके लिए मनुष्य की जान ली जा सके, या मनुष्य अपनी जान देने तक को उचित समझे?

यह प्रश्न केवल एक सामाजिक प्रश्न नहीं है; यह एक नैतिक, धार्मिक और मानवीय प्रश्न भी है।

क्योंकि यदि कोई व्यवस्था केवल एक परंपरा है, तो उसके उल्लंघन पर इतना क्रोध क्यों? यदि वह केवल एक सामाजिक पहचान है, तो उसके कारण समाज बहिष्कार, अपमान, हिंसा और कभी-कभी मृत्यु तक क्यों पहुँच जाता है? और यदि वह वास्तव में धर्म का अनिवार्य अंग है, तो क्या उसके समर्थन में धर्मग्रंथों में उतनी ही स्पष्टता और कठोरता मिलती है, जितनी समाज के व्यवहार में दिखाई देती है?

यहाँ से वह जिज्ञासा जन्म लेती है जो इस पुस्तक का आधार है।

आज भी हम देखते हैं कि एक व्यक्ति अपनी इच्छा से शिक्षा, व्यवसाय, भाषा, शहर और यहाँ तक कि धर्म तक बदल सकता है; परंतु अपनी जाति की सीमाओं को लाँघना अनेक लोगों के लिए असाधारण साहस का कार्य बन जाता है। विशेष रूप से जब कोई स्त्री और पुरुष अंतरजातीय विवाह का निर्णय लेते हैं, तब समाज का एक वर्ग इसे केवल व्यक्तिगत चुनाव नहीं मानता, बल्कि अपनी जातीय मर्यादा के विरुद्ध अपराध की तरह देखता है। परिणामस्वरूप सामाजिक बहिष्कार, प्रताड़ना, हिंसा और अनेक बार हत्या तक की घटनाएँ सामने आती हैं।

इन घटनाओं को देखकर यह प्रश्न स्वाभाविक रूप से उठता है कि आखिर जाति व्यवस्था की शक्ति का स्रोत क्या है? क्या यह शक्ति वास्तव में धर्म से आती है, या समाज ने स्वयं इसे धर्म का संरक्षण प्रदान कर दिया है?

यदि किसी व्यवस्था को बनाए रखने के लिए पीढ़ी-दर-पीढ़ी कठोर नियम, सामाजिक दंड और पूर्वाग्रह आवश्यक हों, तो क्या उसे केवल एक प्रथा कहा जा सकता है? या वह वस्तुतः एक ऐसे सामाजिक कानून का रूप ले चुकी होती है, जो लोगों के व्यवहार, संबंधों और स्वतंत्रता को नियंत्रित करता है?

किसी भी सभ्य समाज में नियम मनुष्य के लिए बनाए जाते हैं; मनुष्य नियमों के लिए नहीं। कोई भी नियम, चाहे वह कितना ही प्राचीन क्यों न हो, समय, परिस्थिति और मानवीय गरिमा से ऊपर नहीं हो सकता। यदि कोई व्यवस्था समाज में बंधुत्व के स्थान पर विभाजन, समानता के स्थान पर ऊँच-नीच, और स्वतंत्रता के स्थान पर भय उत्पन्न करने लगे, तो उसका पुनर्मूल्यांकन केवल अधिकार नहीं, बल्कि नैतिक कर्तव्य बन जाता है।

यही प्रश्न डॉ. भीमराव आंबेडकर ने अपनी प्रसिद्ध कृति 'अन्निहिलेशन ऑफ़ का कास्ट' में उठाया था। उनका तर्क था कि किसी व्यवस्था का सम्मान केवल उसकी प्राचीनता के कारण नहीं किया जा सकता। उसका मूल्य इस बात से तय होना चाहिए कि वह मनुष्य को अधिक स्वतंत्र, अधिक समान और अधिक मानवीय बनाती है या नहीं।

इस पुस्तक का उद्देश्य किसी व्यक्ति, समुदाय या आस्था पर आक्रमण करना नहीं है। इसका उद्देश्य केवल इतना है कि हम उस व्यवस्था की जड़ों को समझें, जिसने भारतीय समाज को हजारों जातियों और उपजातियों में विभाजित कर रखा है। क्या यह विभाजन वास्तव में धर्म

की देन है, या इतिहास, परंपरा और सामाजिक संरचनाओं के लंबे विकास का परिणाम?

इस प्रश्न का उत्तर खोजने का प्रयास केवल बौद्धिक जिज्ञासा नहीं है। जब किसी व्यवस्था का प्रभाव मनुष्य के सम्मान, स्वतंत्रता, प्रेम, विवाह और जीवन तक पहुँच जाए, तब उसके औचित्य की जाँच करना समाज के प्रति हमारी जवाबदेही बन जाता है।

संवाद – 2: जाति व्यवस्था — मिथ्या या ऐतिहासिक वास्तविकता?

यह एक अत्यंत महत्वपूर्ण प्रश्न है, और इसका उत्तर समझना उतना कठिन नहीं है जितना सामान्यतः मान लिया जाता है। किंतु उससे भी अधिक महत्वपूर्ण प्रश्न यह है कि क्या वर्तमान समाज इस उत्तर को स्वीकार करने की मानसिक स्थिति में है?

आज जाति व्यवस्था के संबंध में हिंदू समाज के एक बड़े वर्ग के भीतर अनेक धार्मिक धारणाएँ, पारंपरिक मान्यताएँ, मिथ्याभास और पीढ़ी-दर-पीढ़ी चले आ रहे भ्रम इतने गहरे बैठ चुके हैं कि जब तक इन मानसिक बंधनों को पहले नहीं तोड़ा जाएगा, तब तक जाति व्यवस्था की ऐतिहासिक वास्तविकता को जान लेना भी अपेक्षित परिणाम नहीं दे सकेगा।

यह स्थिति कुछ उसी प्रकार होगी जैसे की मानो किसी दुर्घटना में दृष्टि खो चुके व्यक्ति के सामने अपने उसकी सुविधा के लिए उसके कमरे की सभी लाइटें जला दी हो। यह एक विरोधावाश होगी,

प्रकाश कितना भी प्रखर क्यों न हो, उसका कोई अर्थ नहीं होगा, क्योंकि समस्या प्रकाश की नहीं, दृष्टि की है। जब तक उसकी आँखों का उपचार नहीं होगा और वह प्रकाश तथा अंधकार का अंतर पहचानने में सक्षम नहीं होगा, तब तक उजाला उसके लिए निरर्थक रहेगा।

ठीक यही स्थिति जाति व्यवस्था के विषय में भी है। जब तक हिंदू समाज के एक वर्ग के मन में जन्म-आधारित जाति व्यवस्था के प्रति जड़ जमा चुकी कठोर मान्यताओं, धार्मिक भ्रमों और परंपरागत मिथ्याधारणाओं का निराकरण नहीं किया जाएगा, तब तक केवल ऐतिहासिक प्रमाण प्रस्तुत कर देने से भी अपेक्षित परिवर्तन नहीं

आएगा। सत्य तब तक प्रभावी नहीं हो सकता, जब तक उसे स्वीकार करने की मानसिक तैयारी न हो।

इसलिए जाति व्यवस्था की ऐतिहासिक वास्तविकता पर विचार करने से पहले उन प्रमुख मिथकों, भ्रांतियों और पारंपरिक धारणाओं की समीक्षा करना आवश्यक है, जिन्होंने इस व्यवस्था को आज तक सामाजिक स्वीकार्यता प्रदान की है। यही वे भ्रम हैं, जो जाति व्यवस्था को केवल जीवित ही नहीं रखते, बल्कि अनेक लोगों को उसे धार्मिक कर्तव्य, सामाजिक मर्यादा और परंपरा का अनिवार्य अंग मानने के लिए भी प्रेरित करते हैं।

अतः आइए, सबसे पहले उन प्रमुख मिथ्याधारणाओं और परंपरागत भ्रमों को समझें, जिन्होंने वर्तमान समाज में जाति व्यवस्था की निरंतरता को बनाए रखने में सबसे अधिक भूमिका निभाई है।

मिथ्या धारणा –: "मेरी जाति श्रेष्ठ है।"

जब भी किसी प्रकार की सामाजिक या धार्मिक कट्टरता जन्म लेती है, तो उसके साथ व्यक्तिगत अथवा सामूहिक श्रेष्ठता का भाव भी स्वाभाविक रूप से जुड़ जाता है। जाति व्यवस्था भी इसका अपवाद नहीं है। सदियों से अनेक लोगों ने अपनी जाति को केवल अपनी सामाजिक पहचान ही नहीं, बल्कि अपनी श्रेष्ठता का प्रमाण भी मान लिया। यही कारण है कि आज भी अनेक लोग अपने नाम के साथ जातिसूचक उपनाम जोड़कर अपनी जातीय पहचान को गर्व और प्रतिष्ठा का विषय मानते हैं।

परंतु यहाँ सबसे महत्वपूर्ण प्रश्न यह है—

क्या वास्तव में भारत की कोई भी जाति श्रेष्ठ हो सकती है?

यदि इस प्रश्न का उत्तर केवल परंपरा या भावनाओं से नहीं, बल्कि इतिहास, मानवशास्त्र और आधुनिक विज्ञान के आधार पर खोजा जाए, तो स्थिति बिल्कुल भिन्न दिखाई देती है।

जातीय श्रेष्ठता का सबसे सामान्य आधार **"जातीय शुद्धता"** (Caste Purity) को माना जाता है। यह दावा किया जाता है कि किसी जाति की श्रेष्ठता उसके रक्त, वंश और वंशानुक्रम की शुद्धता में निहित है। किंतु जब इस दावे को प्रमाणों की कसौटी पर परखा जाता है, तो यह धारणा टिकती हुई दिखाई नहीं देती।

इतिहासकार **डी. डी. कोसांबी** ने स्पष्ट किया है कि भारतीय समाज का निर्माण विभिन्न जनसमूहों, संस्कृतियों और समुदायों के दीर्घकालीन समन्वय से हुआ है। इसी प्रकार इतिहासकार **आर. एस. शर्मा** ने भी अपने शोध में बताया है कि भारतीय सामाजिक संरचना समय के साथ निरंतर परिवर्तित होती रही तथा विभिन्न समुदायों के समावेशन से विकसित हुई।

अग्निकुल परंपरा और जातीय शुद्धता

यदि जातीय श्रेष्ठता का आधार रक्तवंशीय शुद्धता माना जाता है, तो इस संदर्भ में इतिहास में वर्णित **अग्निकुल (अग्निकुंड) परंपरा** पर भी विचार करना आवश्यक हो जाता है।

कुछ मध्यकालीन ग्रंथों, विशेषतः **'पृथ्वीराज रासो'** की बाद की परंपराओं तथा अन्य राजपूत वंशावलियों में वर्णन मिलता है कि **माउंट आबू** पर ऋषियों द्वारा किए गए एक महायज्ञ के अग्निकुंड से कुछ प्रमुख राजपूत वंशों की उत्पत्ति हुई। इस कथा में सामान्यतः चार प्रमुख वंशों—**परमार, चौहान, प्रतिहार और सोलंकी (चालुक्य)**—का

उल्लेख किया जाता है। इस परंपरा को सामान्यतः **अग्निकुल कथा** कहा जाता है।

किन्तु आधुनिक इतिहासलेखन इस कथा को ऐतिहासिक घटना के रूप में स्वीकार नहीं करता। अधिकांश इतिहासकारों का मत है कि यह कथा मुख्यतः उन शासक वंशों को सामाजिक और धार्मिक वैधता प्रदान करने के उद्देश्य से विकसित हुई एक **पौराणिक-राजनीतिक परंपरा** थी, न कि प्रत्यक्ष ऐतिहासिक घटना।

इतिहासकार **डी. डी. कोसांबी**, **आर. एस. शर्मा**, **रोमिला थापर**, **बर्टन स्टीन**, **सतीश चंद्र** तथा अनेक अन्य विद्वानों के अध्ययन इस निष्कर्ष की ओर संकेत करते हैं कि राजपूत समुदाय किसी एक रक्तवंश से उत्पन्न एकसमान समूह नहीं था। वह अनेक स्थानीय क्षत्रिय कुलों, क्षेत्रीय योद्धा समुदायों, जनजातीय समूहों तथा कुछ विदेशी मूल के शासक समुदायों के दीर्घकालीन सामाजिक, राजनीतिक और सांस्कृतिक समन्वय का परिणाम था।

इसी प्रकार इतिहासकार **सी. वी. वैद्य** तथा **विन्सेंट स्मिथ** सहित अनेक विद्वानों ने भी इस संभावना पर विचार किया है कि समय के साथ शक, हूण, कुषाण तथा अन्य बाहरी मूल के कुछ शासक समूह भारतीय समाज में समाहित हुए और धीरे-धीरे स्वयं को क्षत्रिय अथवा राजपूत पहचान के अंतर्गत स्थापित करने लगे। यद्यपि इन प्रक्रियाओं की सीमा और स्वरूप को लेकर विद्वानों के बीच मतभेद हैं, परंतु इस बात पर व्यापक सहमति है कि राजपूतों का निर्माण एक दीर्घकालीन ऐतिहासिक प्रक्रिया का परिणाम था, न कि किसी एक शुद्ध रक्तवंश की निरंतरता।

यदि यह ऐतिहासिक निष्कर्ष स्वीकार किया जाए कि स्वयं राजपूत जैसे प्रमुख वंश भी अनेक सामाजिक समूहों के क्रमिक समन्वय से विकसित हुए, तो फिर किसी भी वर्तमान जाति, उपजाति अथवा वंश द्वारा स्वयं

को जन्म से पूर्णतः शुद्ध और श्रेष्ठ घोषित करने का आधार क्या रह जाता है?

यही वह प्रश्न है जो जातीय श्रेष्ठता की संपूर्ण अवधारणा को पुनर्विचार के लिए बाध्य करता है। यदि किसी व्यक्ति की श्रेष्ठता का आधार केवल उसकी जाति है, और उस जाति की श्रेष्ठता का आधार केवल कथित रक्तवंशीय शुद्धता है, जबकि इतिहास स्वयं यह बताता है कि भारतीय समाज की लगभग सभी जातियाँ और वंश दीर्घकालीन सामाजिक मिश्रण तथा ऐतिहासिक समन्वय का परिणाम हैं, तब जन्म के आधार पर श्रेष्ठता का दावा तथ्य की अपेक्षा परंपरागत विश्वास अधिक प्रतीत होता है।

इसे एक सरल उदाहरण से समझा जा सकता है।

यदि दो पात्रों में रखा हुआ दूध पहले से ही पानी के साथ मिश्रित हो, तो उनमें से कोई एक पात्र दूसरे से यह नहीं कह सकता कि **"मैं पूर्णतः शुद्ध हूँ और तुम अशुद्ध हो।"** दोनों की वास्तविकता एक ही है। अथवा, यदि कोई जाति स्वयं को श्रेष्ठ बताती हो और धर्म में श्रेष्ठता का आधार रक्त-वंश की शुद्धता को माना जाता हो, तो इस प्रकार का दावा करने से पहले पुनः विचार करना आवश्यक है।

इतिहास यह भी बताता है कि विशेषकर गुप्त साम्राज्य के विघटन के पश्चात राजनीतिक परिवर्तन, क्षेत्रीय राज्यों के उदय तथा बाहरी समुदायों के समावेशन की प्रक्रिया और अधिक तीव्र हुई। हूण, शक, यवन (INDO-GREEKS), कुषाण तथा अनेक अन्य समूह समय के साथ भारतीय समाज में विभिन्न स्तरों पर समाहित होते गए। परिणामस्वरूप भारतीय समाज का जातीय एवं सामाजिक स्वरूप निरंतर विकसित होता रहा। यदि इतिहास, मानवशास्त्र और आधुनिक आनुवंशिकी—तीनों ही यह संकेत देते हैं कि भारतीय समाज निरंतर मिश्रण, समन्वय और सामाजिक परिवर्तन की प्रक्रिया से बना है, तो किसी भी वर्तमान जाति द्वारा स्वयं को जन्म से श्रेष्ठ अथवा पूर्णतः शुद्ध

घोषित करना ऐतिहासिक और वैज्ञानिक प्रमाणों की अपेक्षा परंपरागत विश्वास पर अधिक आधारित प्रतीत होता है। अतः प्रश्न यह नहीं है कि **कौन-सी जाति श्रेष्ठ है,** बल्कि यह है कि **जब किसी भी जाति की पूर्ण शुद्धता इतिहास और विज्ञान दोनों के आधार पर सिद्ध नहीं होती, तब जन्म के आधार पर श्रेष्ठता का दावा किस आधार पर किया जा सकता है?**

मिथ्या धारणा : "जाति व्यवस्था एक वैज्ञानिक सूजनन (Eugenics) प्रक्रिया है।"

भारत में आज भी कुछ तथाकथित बुद्धिजीवी और जाति व्यवस्था के कट्टर समर्थक यह दावा करते हैं कि जाति व्यवस्था केवल एक सामाजिक व्यवस्था नहीं थी, बल्कि यह एक अत्यंत वैज्ञानिक **सूजनन (Eugenics)** प्रणाली थी। उनके अनुसार प्राचीन भारत में विभिन्न समूहों के सबसे बुद्धिमान, सबसे गुणवान, सबसे शक्तिशाली और श्रेष्ठ व्यक्तियों का चयन करके अलग-अलग जातियों का निर्माण किया गया, ताकि प्रत्येक जाति अपनी विशिष्ट योग्यता, बुद्धिमत्ता और गुणों को पीढ़ी-दर-पीढ़ी सुरक्षित रख सके। पहली दृष्टि में यह तर्क आकर्षक अवश्य प्रतीत होता है, परंतु जैसे ही इसे इतिहास, आधुनिक विज्ञान और सामान्य तर्क की कसौटी पर परखा जाता है, यह अपने आप ढहने लगता है। सबसे पहले एक मूल प्रश्न उठता है—जिस वैज्ञानिक प्रक्रिया को समझने और सफलतापूर्वक लागू करने के लिए आधुनिक आनुवंशिकी (Genetics), जैविकी (Biology) और प्रजनन विज्ञान (Reproductive Science) आज भी निरंतर संघर्ष कर रहे हैं, क्या वही जटिल वैज्ञानिक प्रक्रिया लगभग तीन से चार हजार वर्ष पूर्व बिना आधुनिक विज्ञान, बिना आनुवंशिक ज्ञान, बिना प्रयोगशालाओं और बिना किसी वैज्ञानिक तकनीक के पूर्ण सटीकता के साथ लागू कर दी गई थी? यदि ऐसा दावा किया जाता है, तो उसका समर्थन केवल विश्वास से नहीं, बल्कि असाधारण वैज्ञानिक और ऐतिहासिक प्रमाणों से होना चाहिए। आश्चर्य की बात यह कि अब तक ऐसा कोई प्रमाण उपलब्ध नहीं है। दूसरा प्रश्न इससे भी अधिक महत्वपूर्ण है। यदि एक क्षण के लिए यह मान भी लिया जाए कि प्रारंभिक काल में किसी प्रकार का चयनात्मक वैवाहिक प्रयोग किया गया होगा, तब भी इतिहास यह स्पष्ट करता है कि भारतीय समाज हजारों वर्षों तक विभिन्न जनसमूहों,

समुदायों, प्रवासों और सामाजिक समावेश की प्रक्रियाओं से निरंतर बदलता रहा। शक, हूण, यवन, कुषाण तथा अनेक अन्य समूह समय के साथ भारतीय समाज में समाहित हुए। ऐसी स्थिति में कथित "शुद्ध" जातीय संरचना को हजारों वर्षों तक अपरिवर्तित बनाए रखना व्यावहारिक और ऐतिहासिक—दोनों दृष्टियों से अत्यंत कठिन प्रतीत होता है। परंतु इस पूरी अवधारणा का सबसे बड़ा विरोधाभास स्वयं जाति व्यवस्था के पारंपरिक नियमों में दिखाई देता है। यदि वास्तव में जाति व्यवस्था का उद्देश्य केवल श्रेष्ठ संतति (SUPERIOR OFFSPRING) उत्पन्न करना था, तो अंतर्जातीय विवाह पर रोक लगाने का तर्क किसी सीमा तक समझा जा सकता है। किंतु प्रश्न यह है कि फिर हजारों वर्षों तक केवल अंतर्जातीय विवाह ही नहीं, बल्कि **साथ बैठकर भोजन करना**, **एक-दूसरे का स्पर्श करना**, यहाँ तक कि अनेक स्थानों पर **एक ही कुएँ का पानी पीना** भी जाति-भ्रष्ट होने का कारण क्यों माना गया?

क्या साथ भोजन करने से किसी व्यक्ति का डीएनए बदल जाता है?

क्या किसी दूसरे मनुष्य के स्पर्श मात्र से किसी के जीन (GENES) अशुद्ध हो जाते हैं?

क्या साथ बैठकर भोजन करने से वंशानुगत गुण (HEREDITY) समाप्त हो जाते हैं?

आधुनिक विज्ञान इन सभी प्रश्नों का स्पष्ट उत्तर देता है—**नहीं।**

स्पर्श, साथ भोजन करना अथवा सामाजिक संपर्क का किसी व्यक्ति की आनुवंशिक संरचना (GENETIC STRUCTURE) पर कोई प्रत्यक्ष प्रभाव नहीं पड़ता। यदि ऐसा है, तो फिर इन नियमों का वैज्ञानिक सूजनन (EUGENICS) से कोई संबंध नहीं रह जाता। यही वह मूल तर्क है जिसे **डॉ. भीमराव आंबेडकर** ने अपनी प्रसिद्ध पुस्तक(**ANNIHILATION OF**

CASTE) में अत्यंत स्पष्टता के साथ प्रस्तुत किया। उन्होंने कहा कि यदि जाति व्यवस्था वास्तव में वैज्ञानिक सूजनन की प्रणाली होती, तो उसके नियम केवल विवाह तक सीमित होते; भोजन, स्पर्श और सामाजिक संपर्क को जाति-भ्रष्टता का कारण नहीं माना जाता। इससे स्पष्ट होता है कि जाति व्यवस्था का आधार वैज्ञानिक आनुवंशिकी नहीं, बल्कि सामाजिक पृथक्करण (SOCIAL SEGREGATION) और समूहगत अलगाव (SOCIAL ISOLATION) था। अतः जो लोग आज भी जाति व्यवस्था को वैज्ञानिक सूजनन प्रणाली बताकर उसकी श्रेष्ठता सिद्ध करने का प्रयास करते हैं, वे इतिहास, आधुनिक विज्ञान और स्वयं जाति व्यवस्था के पारंपरिक नियमों—तीनों की उपेक्षा करते हैं। ऐसी स्थिति में इस प्रकार का दावा प्रमाणित ऐतिहासिक निष्कर्ष की अपेक्षा एक वैचारिक धारणा अधिक प्रतीत होता है। इसलिए यह कहना अधिक उचित होगा कि जाति व्यवस्था को वैज्ञानिक सूजनन प्रणाली सिद्ध करने का प्रयास इतिहास, विज्ञान और तर्क—तीनों की कसौटी पर टिकता हुआ दिखाई नहीं देता।

मिथ्या धारणा : "जाति व्यवस्था को भगवान ने बनाया है।"

हिंदू समाज में जाति व्यवस्था के संबंध में सबसे प्राचीन, सबसे व्यापक और सबसे प्रभावशाली धारणाओं में से एक यह है कि **"जाति व्यवस्था स्वयं भगवान द्वारा बनाई गई है, इसलिए उसका पालन करना प्रत्येक हिंदू का धार्मिक कर्तव्य है।"** यही वह धारणा है जिसने सदियों से असंख्य लोगों के मन में जाति व्यवस्था के प्रति अटूट विश्वास और कट्टर निष्ठा को बनाए रखा है। यह एक ऐसा कथन है, जिसे सुनते ही सामान्य व्यक्ति के मन में स्वाभाविक रूप से श्रद्धा उत्पन्न हो जाती है। क्योंकि जहाँ किसी व्यवस्था को सीधे भगवान से जोड़ दिया जाता है, वहाँ अधिकांश लोग तर्क करना छोड़ देते हैं और उसे बिना प्रश्न किए स्वीकार कर लेते हैं। यही कारण है कि यह धारणा केवल एक धार्मिक विश्वास नहीं रह जाती, बल्कि धीरे-धीरे सामाजिक कट्टरता का आधार भी बन जाती है। आज भी अनेक तथाकथित धर्मगुरु, प्रवचनकर्ता और जाति व्यवस्था के समर्थक बड़ी सहजता से यह कहते हुए दिखाई देते हैं कि **"जाति व्यवस्था भगवान की बनाई हुई व्यवस्था है।"** उनके अनुयायी भी इस कथन को बिना किसी ऐतिहासिक, शास्त्रीय अथवा तार्किक परीक्षण के सत्य मान लेते हैं। परन्तु किसी ऐसे व्यवस्था जहाँ लोगो में न केवल 'जाति' बनाए रखने की शिक्षा देती है, बल्कि लोगो के बीच ऊँच-नीच जैसे भेदभाव की भावना को कट्टरता और संकीर्णता से उसे अनुसरण करने को भी उतनी ही प्रबलता से कहती है, जैसे गंभीर 'जाती' विषय पर केवल विश्वास के आधार पर नहीं, बल्कि प्रमाण, तर्क और स्रोतों के आधार पर निर्णय किया जाना चाहिए।

अतः यहाँ सबसे महत्वपूर्ण प्रश्न यह है—

क्या वास्तव में किसी हिंदू धर्मग्रंथ में भगवान ने स्वयं प्रत्यक्ष रूप से "जाति व्यवस्था" (Jāti System) बनाने की घोषणा की है?

यदि इस प्रश्न का उत्तर **हाँ** है, तो उसका प्रमाण स्पष्ट रूप से किसी ऐसे प्रामाणिक धार्मिक ग्रंथ में उपलब्ध होना चाहिए, जहाँ स्वयं भगवान अपने मुख से "जाति" (जाति व्यवस्था) का उल्लेख करते हुए उसके निर्माण की घोषणा करते हों।और यदि ऐसा कोई प्रत्यक्ष प्रमाण उपलब्ध नहीं है, तो केवल परंपरागत मान्यता या किसी व्यक्ति के कथन के आधार पर यह कहना कि **"जाति व्यवस्था भगवान द्वारा बनाई गई है"**, एक ऐसे दावे के रूप में देखा जाना चाहिए जिसकी शास्त्रीय जाँच और ऐतिहासिक परीक्षा अभी भी आवश्यक है।किसी भी विचार को केवल इसलिए सत्य नहीं माना जा सकता कि वह सदियों से दोहराया जाता रहा है। सत्य का निर्धारण परंपरा से नहीं, बल्कि प्रमाण से होता है। इसी कारण इस अध्याय में आगे हम यह जाँच करेंगे कि हिंदू धर्म के मूल ग्रंथ—वेद, भगवद्गीता, ब्राह्मण ग्रंथ, धर्मसूत्र और स्मृतियाँ—वास्तव में "जाति व्यवस्था" के विषय में क्या कहते हैं, और क्या उनमें कहीं भगवान द्वारा प्रत्यक्ष रूप से जन्म-आधारित जाति व्यवस्था की स्थापना का स्पष्ट प्रमाण मिलता है?

क्या वास्तव में भगवान ने जाति व्यवस्था की रचना की?

जाति व्यवस्था के समर्थकों द्वारा यदि किसी एक धार्मिक आधार का सबसे अधिक उल्लेख किया जाता है, तो वह है—**ऋग्वेद का पुरुषसूक्त**। सामान्यतः यह दावा किया जाता है कि चूँकि पुरुषसूक्त वेद का भाग है, और वेदों को भगवान की वाणी अथवा ब्रह्मा की वाणी माना जाता है, इसलिए जाति व्यवस्था भी ईश्वर द्वारा निर्मित व्यवस्था है। किन्तु क्या यह निष्कर्ष वास्तव में स्वयं 'वेद' से सिद्ध होता है, अथवा यह बाद की व्याख्याओं का परिणाम है? किसी भी निष्कर्ष पर पहुँचने से पहले मूल स्रोत को देखना आवश्यक है। इसलिए आइए, सीधे **ऋग्वेद** की ओर चलते हैं।

ऋग्वेद मंडल 10, सूक्त 90 (पुरुष सूक्त) में कुल 16 ऋचाएँ (मंत्र) हैं। नीचे उसका मूल संस्कृत पाठ दिया है:

मन्त्र 1

सहस्रशीर्षा पुरुषः सहस्राक्षः सहस्रपात्।
स भूमिं विश्वतो वृत्वा अत्यतिष्ठद्दशाङ्गुलम्॥

अर्थ:
पुरुष (सर्वव्यापी सत्ता) के हजारों सिर, हजारों आँखें और हजारों पैर हैं। वह संपूर्ण पृथ्वी को अपने भीतर समेटकर भी उससे परे विद्यमान रहता है।

मन्त्र 2

पुरुष एवेदं सर्वं यद्भूतं यच्च भव्यम्।
उतामृतत्वस्येशानो यदन्नेनातिरोहति॥

अर्थ:

यह सम्पूर्ण जगत वही पुरुष है—जो भूतकाल, वर्तमान और भविष्य सबका स्वामी है। वह अमरता का अधिपति है और अन्न के माध्यम से भी सबको जीवन देता है।

मन्त्र 3

एतावानस्य महिमाऽतो ज्यायाँश्च पुरुषः।
पादोऽस्य विश्वा भूतानि त्रिपादस्यामृतं दिवि॥

अर्थ:
उस पुरुष की महिमा अनंत है; वह स्वयं उससे भी महान है। उसका एक भाग यह समस्त संसार है, जबकि उसका शेष भाग अमर लोक (दिव्य स्थिति) में स्थित है।

मन्त्र 4

त्रिपादूर्ध्व उदैत्पुरुषः पादोऽस्येहाभवत्पुनः।
ततो विष्वङ्व्यक्रामत्साशनानशने अभि॥

अर्थ:
उस पुरुष का एक भाग ऊपर स्थित है और तीन भाग इस संसार में प्रकट हैं। वह सर्वत्र फैलकर भी सबको अपने भीतर समेटे हुए है।

मन्त्र 5

तस्माद्विराडजायत विराजो अधि पुरुषः।
स जातो अत्यरिच्यत पश्चाद्भूमिमथो पुरः॥

अर्थ:
उस पुरुष से विराट (समस्त सृष्टि शक्ति) उत्पन्न हुई और विराट से स्वयं पुरुष प्रकट हुआ। वह जन्म लेकर भी सर्वत्र फैल गया और फिर आगे भी विस्तृत होता गया।

मन्त्र 6

यत्पुरुषेण हविषा देवा यज्ञमतन्वत।
वसन्तोऽस्यासीदाज्यं ग्रीष्म इध्मः शरद्धविः॥

अर्थ:
देवताओं ने उस पुरुष को यज्ञ के रूप में प्रस्तुत किया। वसंत उसका घी बना, ग्रीष्म लकड़ी और शरद ऋतु हवि (आहुति सामग्री) बनी।

मन्त्र 7

तं यज्ञं बर्हिषि प्रौक्षन् पुरुषं जातमग्रतः।
तेन देवा अयजन्त साध्या ऋषयश्च ये॥

अर्थ:
देवताओं ने उस पुरुष को यज्ञ में समर्पित किया। देवताओं, ऋषियों और साध्यगण ने इसी के माध्यम से यज्ञ संपन्न किया।

मन्त्र 8

तस्माद्यज्ञात्सर्वहुतः सम्भृतं पृषदाज्यम्।
पशूंस्ताँश्चक्रे वायव्यानारण्यान् ग्राम्याश्च ये॥

अर्थ:

उस यज्ञ से पवित्र घी और पशु उत्पन्न हुए, तथा सभी प्रकार के प्राणी—पालतू और वन्य—उत्पन्न हुए।

मन्त्र 9

तस्माद्यज्ञात्सर्वहुत ऋचः सामानि जज्ञिरे।
छन्दांसि जज्ञिरे तस्माद्यजुस्तस्मादजायत॥

अर्थ:

उस यज्ञ से ऋचाएँ, सामवेद के मंत्र और यजुर्वेद की रचनाएँ उत्पन्न हुईं। छंद भी उसी से उत्पन्न हुए।

मन्त्र 10

तस्मादश्वा अजायन्त ये के चोभयादतः।
गावो ह जज्ञिरे तस्मात्तस्माज्जाता अजावयः॥

अर्थ:

उससे घोड़े, गायें और बकरी जैसे पशु उत्पन्न हुए। सभी प्रकार के पशु उसी से प्रकट हुए।

मन्त्र 11

यत्पुरुषं व्यदधुः कतिधा व्यकल्पयन्।
मुखं किमस्य कौ बाहू का ऊरू पादा उच्येते॥

अर्थ:
देवताओं ने पुरुष को विभिन्न भागों में विभाजित किया। प्रश्न उठाया गया कि उसके मुख, भुजाएँ, जंघाएँ और पैर क्या हैं?

मन्त्र 12 (चातुर्वर्ण्य का प्रसिद्ध मन्त्र)

ब्राह्मणोऽस्य मुखमासीद्बाहू राजन्यः कृतः।
ऊरू तदस्य यद्वैश्यः पद्भ्यां शूद्रो अजायत॥

अर्थ (प्रसिद्ध चातुर्वर्ण्य मंत्र):
उस पुरुष के मुख से ब्राह्मण, भुजाओं से क्षत्रिय, जंघाओं से वैश्य और पैरों से शूद्र उत्पन्न हुए।

मन्त्र 13

चन्द्रमा मनसो जातश्चक्षोः सूर्यो अजायत।
मुखादिन्द्रश्चाग्निश्च प्राणाद्वायुरजायत॥

अर्थ:
उस पुरुष के मन से चंद्रमा, नेत्रों से सूर्य, मुख से इंद्र और अग्नि तथा प्राण से वायु उत्पन्न हुए।

मन्त्र 14

नाभ्या आसीदन्तरिक्षं शीर्ष्णो द्यौः समवर्तत।
पद्भ्यां भूमिर्दिशः श्रोत्रात्तथा लोकानकल्पयन्॥

अर्थ:
उसके नाभि से अंतरिक्ष, सिर से स्वर्ग और पैरों से पृथ्वी उत्पन्न हुई। कानों से दिशाएँ उत्पन्न हुईं और इसी प्रकार सम्पूर्ण लोकों की रचना हुई।

मन्त्र 15

सप्तास्यासन् परिधयस्त्रिः सप्त समिधः कृताः।
देवा यद्यज्ञं तन्वाना अबध्नन् पुरुषं पशुम्॥

अर्थ:
यज्ञ के सात परिधि और इक्कीस प्रकार की समिधाएँ बनीं। देवताओं ने उस यज्ञ के माध्यम से पुरुष को प्रतीक रूप में स्थापित किया।

मन्त्र 16

यज्ञेन यज्ञमयजन्त देवास्तानि धर्माणि प्रथमान्यासन्।
ते ह नाकं महिमानः सचन्त यत्र पूर्वे साध्याः सन्ति देवाः॥

अर्थ:
देवताओं ने यज्ञ द्वारा यज्ञ का ही विस्तार किया। ये ही धर्म के प्रथम आधार बने। जो लोग इस महान यज्ञ में सहभागी हुए, वे उस परम लोक को प्राप्त हुए जहाँ प्राचीन साध्य और देवता निवास करते हैं।

यही वह सूक्त है, जिसे परंपरागत रूप से चार वर्णों की उत्पत्ति का आधार माना जाता है। इसी सूक्त के आधार पर आगे चलकर अनेक धर्मशास्त्रों, स्मृतियों और परवर्ती ग्रंथों ने अपने सामाजिक सिद्धांतों की व्याख्या की। अब यहाँ एक अत्यंत महत्वपूर्ण तथ्य पर ध्यान देना आवश्यक है। जब हम पुरुषसूक्त के मूल संस्कृत मंत्रों का अध्ययन करते हैं, तो एक आश्चर्यजनक तथ्य सामने आता है। **सम्पूर्ण पुरुषसूक्त में "जाति" शब्द का एक बार भी उल्लेख नहीं मिलता।** इतना ही नहीं, "जाति व्यवस्था" जैसा कोई शब्द या वाक्य भी वहाँ कहीं नहीं लिखा गया है। यदि वास्तव में जाति व्यवस्था भगवान द्वारा निर्मित और घोषित व्यवस्था होती, तो स्वाभाविक रूप से उसका स्पष्ट उल्लेख उसी मूल स्रोत में होना चाहिए, जिसे उसका आधार बताया जाता है। तब प्रश्न उठता है—

जब स्वयं पुरुषसूक्त में "जाति" शब्द का उल्लेख ही नहीं है, तो यह निष्कर्ष किस आधार पर निकाला गया कि भगवान ने "जाति व्यवस्था" की स्थापना की?

क्या यह निष्कर्ष स्वयं ऋग वेद के पुरुसूक्त का है भी या नहीं? या फिर यह बाद के काल के धर्मशास्त्रों, सामाजिक व्याख्याओं और परंपरागत मान्यताओं द्वारा विकसित किया गया निष्कर्ष है?

संभवतः जाति व्यवस्था के समर्थकों का संकेत **ऋग्वेद 10.90.12** की ओर है।

यही वह प्रसिद्ध मंत्र है :

ब्राह्मणोऽस्य मुखमासीद्बाहू राजन्यः कृतः।
ऊरू तदस्य यद्वैश्यः पद्भ्यां शूद्रो अजायत॥

“उस पुरुष के मुख से ब्राह्मण, भुजाओं से क्षत्रिय, जंघाओं से वैश्य और पैरों से शूद्र उत्पन्न हुए।“

इसमें चार वर्णों—ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र—का उल्लेख मिलता है। यही मंत्र परंपरागत रूप से जाति व्यवस्था का मूल आधार माना जाता रहा है। किन्तु यहाँ भी एक अत्यंत महत्वपूर्ण प्रश्न उपस्थित होता है—**क्या "वर्ण" और "जाति" एक ही हैं?** क्या ऋग्वेद में वर्णित चार वर्ण वही हैं जिन्हें आज हजारों जातियों और उपजातियों के रूप में देखा जाता है? क्या केवल चार वर्णों के उल्लेख से हजारों जन्म-आधारित जातियों की व्यवस्था स्वतः सिद्ध हो जाती है? या फिर "वर्ण" और "जाति" दो भिन्न सामाजिक अवधारणाएँ हैं, जिन्हें बाद के काल में एक-दूसरे के समान मान लिया गया? इन्हीं प्रश्नों का उत्तर इस पूरी बहस की दिशा निर्धारित करता है। अतः आगे बढ़ने से पहले हमें यह समझना होगा कि **"वर्ण" और "जाति" वास्तव में एक ही व्यवस्था हैं या दो भिन्न सामाजिक अवधारणाएँ।** जब तक इस मूल प्रश्न का समाधान नहीं हो जाता, तब तक पुरुषसूक्त को जन्म-आधारित जाति व्यवस्था का अंतिम और निर्विवाद प्रमाण मान लेना ऐतिहासिक तथा शास्त्रीय—दोनों दृष्टियों से उचित नहीं कहा जा सकता।आइए, हम साथ मिलकर इस तथाकथित ‘जाति व्यवस्था’ के आधार—‘पुरुषसूक्त’—की प्रमाणिकता कितनी सही है या नहीं, इसे समझते हैं।

(क) जाति व्यवस्था और वर्ण व्यवस्था में मूलभूत अंतर क्या है?

अब यहाँ एक अत्यंत महत्वपूर्ण प्रश्न उठता है—

क्या वर्तमान की जन्म-आधारित जाति व्यवस्था और ऋग्वेद में वर्णित चातुर्वर्ण व्यवस्था वास्तव में एक ही हैं, अथवा दोनों अलग-अलग सामाजिक अवधारणाएँ हैं? इस प्रश्न का उत्तर जाने बिना जाति व्यवस्था पर कोई भी निष्कर्ष निकालना उचित नहीं होगा।

तथाकथित जाति व्यवस्था का आधार:

ऋग्वेद के पुरुषसूक्त (मंडल 10, सूक्त 90, मंत्र 12)

ब्राह्मणोऽस्य मुखमासीद्बाहू राजन्यः कृतः।
ऊरू तदस्य यद्वैश्यः पद्भ्यां शूद्रो अजायत॥

“उस पुरुष के मुख से ब्राह्मण, भुजाओं से क्षत्रिय, जंघाओं से वैश्य और पैरों से शूद्र उत्पन्न हुए।“

को माना जाता है। इसी मंत्र में चार वर्णों—**ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र**—का उल्लेख मिलता है। मंत्र के अनुसार विराट पुरुष (पुरुष) के मुख से ब्राह्मण, भुजाओं से राजन्य (क्षत्रिय), जंघाओं से वैश्य और चरणों से शूद्र की उत्पत्ति बताई गई है। यही वह मंत्र है, जिसे आगे चलकर अनेक परंपराओं में समाज के चार वर्णों के आधार के रूप में प्रस्तुत किया गया। किन्तु **इस पूरे पुरुषसूक्त में कहीं भी "जाति" शब्द का उल्लेख नहीं मिलता,** न "जाति व्यवस्था" का वर्णन है और न ही यह कहा गया है कि मनुष्य का सामाजिक स्थान केवल जन्म से ही निर्धारित होगा। ऐसी स्थिति में केवल यह कह देना कि **"जाति व्यवस्था का मूल आधार चातुर्वर्ण व्यवस्था है"**, एक ऐसा दावा प्रतीत होता है

जिसकी पुनः तथ्यात्मक जाँच आवश्यक है। क्योंकि जहाँ एक ओर चातुर्वर्ण व्यवस्था का आधार (भगवतगीता के अध्याय 4, श्लोक 13) व्यक्ति के **गुण, कर्म और सामाजिक दायित्व** की व्याख्या से जोड़ा जाता है, वहीं वर्तमान जाति व्यवस्था व्यक्ति की सामाजिक पहचान को **जन्म** से निर्धारित करती है।जब दोनों व्यवस्थाओं के आधार ही अलग-अलग हैं, तो दोनों को एक-दूसरे का पर्याय मान लेना न तो तार्किक प्रतीत होता है और न ही शास्त्रीय दृष्टि से स्वतः सिद्ध माना जा सकता है।

महर्षि दयानंद सरस्वती, जिन्हें आधुनिक भारत के सबसे बड़े वैदिक विद्वानों में गिना जाता है, ने जन्म-आधारित जाति व्यवस्था का स्पष्ट विरोध किया। उन्होंने अपनी प्रसिद्ध पुस्तक **'सत्यार्थ प्रकाश'** में कहा कि वर्ण का निर्धारण **जन्म से नहीं, बल्कि व्यक्ति के गुण, कर्म और स्वभाव** से होना चाहिए। उनका स्पष्ट मत था— **"जो मनुष्य गुण, कर्म और स्वभाव से ब्राह्मण होने योग्य है, वही ब्राह्मण है; केवल ब्राह्मण परिवार में जन्म लेने मात्र से कोई ब्राह्मण नहीं हो जाता। इसी प्रकार यदि कोई व्यक्ति तथाकथित निम्न समझे जाने वाले परिवार में जन्म लेकर भी विद्वान, सदाचारी और योग्य है, तो उसके गुणों के अनुसार उसे सम्मान मिलना चाहिए।"** महर्षि दयानंद का यह मत संयोग नहीं था। इसका आधार स्वयं वैदिक साहित्य था। इसी विचार की पुष्टि

भगवद्गीता (अध्याय 4, श्लोक 13) में भी दिखाई देती है, जहाँ भगवान श्रीकृष्ण कहते हैं—

"चातुर्वर्ण्यं मया सृष्टं गुणकर्मविभागशः।"

अर्थात—

"चार वर्णों की व्यवस्था मैंने मनुष्यों के गुण और कर्म के आधार पर की है।"

यहाँ भी ध्यान देने योग्य तथ्य यह है कि इस श्लोक में जन्म वर्ण निर्धारण का आधार नहीं कहा गया है। आधार केवल **गुण** और **कर्म** बताए गए है। और इससे भी महत्वपूर्ण तथ्य यह है कि **सम्पूर्ण ऋग्वेद में कहीं भी "जाति व्यवस्था" शब्द का उल्लेख नहीं मिलता।** उपलब्ध उपर्युक्त तथ्यों, शास्त्रीय संदर्भों और वैदिक व्याख्याओं के आधार पर यह कहा जा सकता है कि **वर्तमान जन्म-आधारित जाति व्यवस्था का प्रत्यक्ष आधार स्वयं भगवद्गीता भी प्रतीत नहीं होती।** भगवद्गीता में वर्णों के विभाजन का आधार स्पष्ट रूप से **"गुण" और "कर्म"** बताया गया है, न कि जन्म। इसी प्रकार, यदि ऋग्वेद के पुरुषसूक्त का भी निष्पक्ष अध्ययन किया जाए, तो वहाँ **"जाति व्यवस्था"** अथवा **"जन्म-आधारित सामाजिक वर्गीकरण"** का प्रत्यक्ष उल्लेख नहीं मिलता। यदि कोई यह दावा करता है कि वर्तमान जन्म-आधारित जाति व्यवस्था का मूल स्रोत ऋग्वेद का पुरुषसूक्त या भगवद्गीता है, तो उस दावे के समर्थन में स्पष्ट शास्त्रीय प्रमाण प्रस्तुत किए जाने चाहिए। केवल परंपरा के आधार पर किसी निष्कर्ष को स्वीकार कर लेना पर्याप्त नहीं माना जा सकता।

पुरुषसूक्त में केवल चार **वर्णों** का उल्लेख है; "जाति" शब्द या हजारों जन्म-आधारित जातियों की कोई व्यवस्था वहाँ वर्णित नहीं है। महर्षि **दयानंद सरस्वती** सहित अनेक वैदिक विद्वानों ने भी जन्म-आधारित जाति व्यवस्था का समर्थन नहीं किया।**इस दृष्टि से देखें तो वैदिक वर्ण-व्यवस्था और वर्तमान जन्म-आधारित जाति व्यवस्था के बीच एक मूलभूत अंतर दिखाई देता है।** ऐसी स्थिति में मन में कई स्वाभाविक गंभीर प्रश्न उठाते है—

‘यदि वर्तमान जाति व्यवस्था का आधार न ऋग्वेद है, न भगवद्गीता और न ही प्रमुख वैदिक व्याख्याकारों की मान्यता, तो फिर इसका वास्तविक स्रोत क्या है?’

यदि पुरुषसूक्त में केवल "वर्ण" का उल्लेख है, तो "जाति व्यवस्था" का निष्कर्ष किस आधार पर निकाला गया?

कौन-से ऐसे धार्मिक, सामाजिक या उत्तरवैदिक ग्रंथ हैं, जिनकी व्याख्याओं के आधार पर जन्म-आधारित जाति व्यवस्था को धार्मिक वैधता प्रदान की गई?

यदि ऐसे ग्रंथ उपलब्ध हैं, तो यह भी जाँचना आवश्यक है कि क्या उनकी शिक्षाएँ ऋग्वेद और भगवद्गीता में वर्णित मूल वैदिक सिद्धांतों के अनुरूप हैं, अथवा उनसे भिन्न?

यही वह प्रश्न है, जिसकी निष्पक्ष और ऐतिहासिक जाँच किए बिना जाति व्यवस्था की वास्तविक उत्पत्ति और उसके विकास को समझना संभव नहीं है। इसलिए अब आवश्यकता इस बात की है कि हम उन ग्रंथों, परंपराओं और ऐतिहासिक प्रक्रियाओं का क्रमबद्ध अध्ययन करें, जहाँ से जन्म-आधारित जाति व्यवस्था का स्वरूप क्रमशः विकसित होता दिखाई देता है। तभी यह स्पष्ट हो सकेगा कि वर्तमान जाति व्यवस्था वास्तव में वैदिक परंपरा की देन है या बाद के सामाजिक एवं धार्मिक विकास का परिणाम। यदि जाति व्यवस्था की ऐतिहासिक वास्तविकता को समझना है, तो सबसे पहले हमें प्रारंभिक वैदिक समाज की सामाजिक संरचना को समझना होगा।

आइये प्रारंभिक वैदिक काल की ओर चलें..

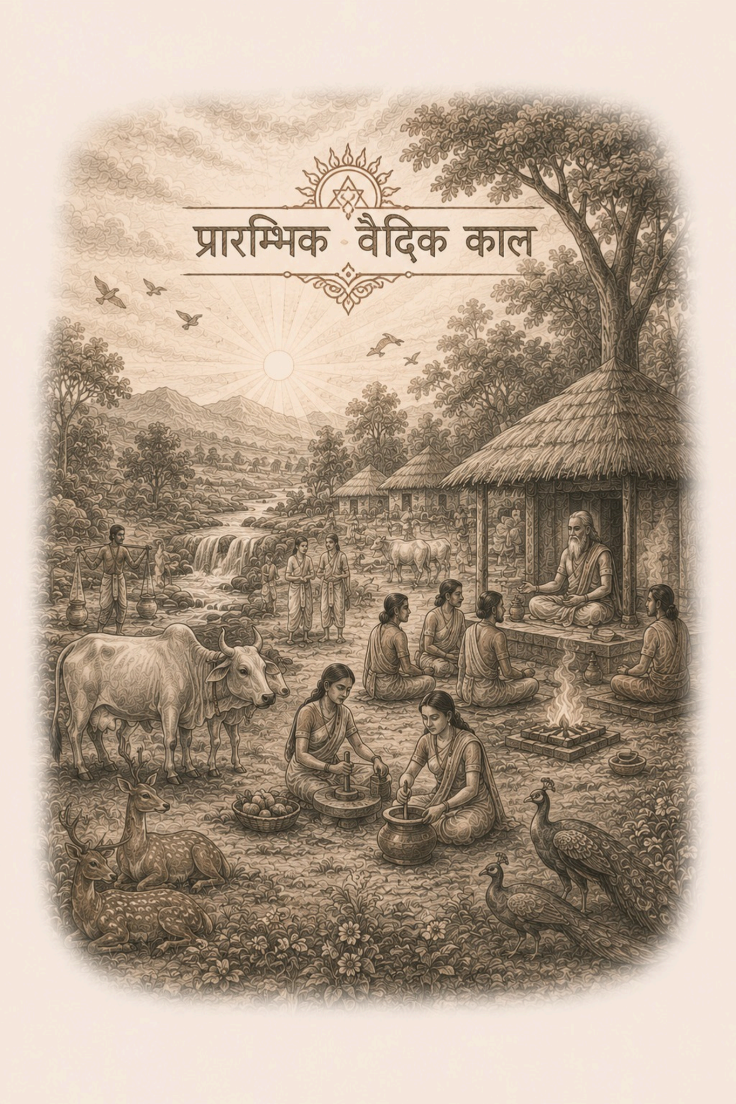
प्रारम्भिक वैदिक काल

लगभग **1500 से 1200 ईसा पूर्व** के बीच का समय प्रारंभिक वैदिक काल का माना जाता है। इस समय समाज मुख्यतः **कबीलों (TRIBES/जनसमूहों)** में संगठित था। लोगों का प्रमुख व्यवसाय **पशुपालन, कृषि और सीमित स्तर का व्यापार** था। वे छोटे-छोटे जनसमूहों में भारत के विभिन्न क्षेत्रों में निवास करते थे और उनका सामाजिक जीवन अपेक्षाकृत सरल था। इतिहासकारों के अनुसार, इस काल में आज जैसी **जन्म-आधारित कठोर जाति व्यवस्था** का कोई प्रमाण नहीं मिलता। समाज में विभिन्न प्रकार के कार्य अवश्य थे, किन्तु बाद के समय जैसी हजारों जातियों में विभाजित कठोर सामाजिक संरचना उस समय दिखाई नहीं देती। इसी काल में **ऋग्वेद** की प्रारंभिक ऋचाओं की रचना हुई। यदि ऋग्वेद का निष्पक्ष अध्ययन किया जाए, तो उसमें **"वर्ण"** शब्द का उल्लेख कुछ स्थानों पर अवश्य मिलता है, किन्तु उसका अर्थ सामाजिक वर्ग या जन्म-आधारित विभाजन नहीं होता है अथवा स्वयं पुरुसूक्त की प्रत्यक्ष वर्ण व्यवस्था जैसा कोई भी सामजिकीय विभाजन (10.90.12 ब्राह्मण,क्षत्रिये और वैश्य) देखने को नहीं मिलता है । अब आइए, इस तथ्य को स्वयं **ऋग्वेद के मूल मंत्रों** के उदाहरणों के माध्यम से समझने का प्रयास करते हैं, ताकि यह स्पष्ट हो सके कि प्रारंभिक वैदिक साहित्य में "वर्ण" शब्द का प्रयोग किन-किन अर्थों में किया गया है।

ऋग्वेद 9.71.2

मूल संस्कृत:

"प्र कृष्टिहेव शूष एति रोरुवद्
असुर्यं वर्णं नि रिणीते अस्य तम्।
जहाति वव्रिं पितुरेति निष्कृतम्
उपप्रुतं कृणुते निर्णिजं तना॥"

सरल हिन्दी अर्थ

यह मंत्र **सोम** का वर्णन करता है।

अर्थात—

जैसे गर्जना करता हुआ वीर आगे बढ़ता है, वैसे ही सोम अपने ऊपर छाए **असुर-वर्ण (अंधकारमय रूप/काले आवरण)** को त्याग देता है। वह अपने पुराने आवरण को छोड़कर उज्ज्वल एवं शुद्ध स्वरूप धारण करता है।

यहाँ "वर्ण" का अर्थ क्या है? यहाँ **असुर्यं वर्णम्** का अर्थ जाति नहीं चार वर्ण नहीं ब्राह्मण-क्षत्रिय-वैश्य शूद्र नहीं बल्कि **रंग / रूप / बाहरी आवरण / APPEARANCE** है।

उपर्युक्त ऋग्वेद के मंत्र के विश्लेषण से यह स्पष्ट होता है कि प्रारंभिक वैदिक ऋग्वेद में 'वर्ण' शब्द का प्रयोग मुख्यतः किसी वस्तु के रंग, रूप, स्वरूप, प्रकार या चमक जैसी प्रत्यक्ष एवं दृश्य विशेषताओं को व्यक्त करने के लिए किया गया है। इन उदाहरणों में 'वर्ण' का अर्थ किसी सामाजिक विभाजन या जन्म-आधारित वर्गीकरण से संबंधित प्रतीत नहीं होता।

अतः यह कहा जा सकता है कि प्रारंभिक ऋग्वेद या वैदिक काल के आरंभिक चरण में चातुर्वर्ण्य व्यवस्था का कोई स्पष्ट या प्रत्यक्ष रूप में उल्लेख उपलब्ध नहीं होता। कई विद्वानों की भी यह सामान्य धारणा है कि ऋग्वेद के प्रारंभिक भागों में सामाजिक विभाजन की संरचना अपेक्षाकृत सरल और कबीलाई (TRIBAL) प्रकृति की थी। उस समय

समाज आज जैसी पूरी तरह बंधी हुई जाति-व्यवस्था वे चतुर्वर्णीय की स्तिथि जैसी गंभीर नहीं थी। ऋग्वेद के प्रारंभिक 9 मंडलों में समाज लचीला (FLEXIBLE) था। इसका सबसे प्रसिद्ध उदाहरण ऋग्वेद के ;

नौवें मंडल (9.112.3) का एक मंत्र है:

कारुरहं ततो भिषगुपलप्रक्षिणी नना।

नानाधियो वसूयवोऽनु गा इव तस्थिमेन्द्रायेन्दो परि स्रव।।

"मैं कवि हूँ, मेरे पिता वैद्य (भिषज) हैं,और मेरी माता चक्की से अन्न पीसने वाली है। हम सब अलग-अलग काम करते हुए भी एक साथ रहते हैं।"

इस मंत्र से यह संकेत मिलता है कि उस समय व्यवसाय पूरी तरह किसी व्यक्ति के जन्म से निश्चित नहीं थे। एक ही परिवार के सदस्य अलग-अलग प्रकार के कार्य करते थे, जिससे यह अनुमान लगाया जा सकता है कि व्यवसाय चुनने में कुछ हद तक लचीलापन मौजूद था। इसके विपरीत, ऋग्वेद का दशम मंडल, जिसमें पुरुषसूक्त (10.90) आता है, कुछ विद्वानों के अनुसार अपेक्षाकृत उत्तरकालीन रचना माना जाता है। इस मत के समर्थन में यह तर्क भी दिया जाता है कि ऋग्वेद के अधिकांश पुराने भागों में ब्राह्मण शब्द मिलता है क्षत्र (राजसत्ता) का उल्लेख मिलता है विश् (जनसाधारण) का उल्लेख मिलता है :

ब्राह्मण शब्द उल्लेख

ऋग्वेद 10.71.2 — अर्थ

मूल संस्कृत

ब्रह्म जज्ञाना प्रथमं पुरस्तात्
ब्रह्मणोऽस्य योनिमन्वविन्दन्।

सरल हिंदी अर्थ : "ब्रह्म" (पवित्र ज्ञान / दिव्य वाणी / COSMIC WISDOM) सबसे पहले उत्पन्न हुआ। ऋषियों ने उस "ब्रह्म" के मूल स्रोत (YONI = उत्पत्ति-स्थान) को खोज लिया।

क्षत्र (राजसत्ता) का उल्लेख मिलता है :

"ऋग्वेद में 'क्षत्र' शब्द शासन-शक्ति (SOVEREIGN POWER) और 'क्षत्रिय' शब्द योद्धा/शासक वर्ग के लिए प्रयुक्त होता है, यद्यपि यह आधुनिक 'राज्य व्यवस्था' जैसा स्थिर राजनीतिक वर्गीकरण नहीं है।"

विश् (जनसाधारण) का उल्लेख:

"ऋग्वेद में इन्द्र को 'विशां पति' अर्थात् जनसमूहों का रक्षक माना गया है।"

परन्तु कही भी 'चतुवर्णीय' की तीसरे वर्ण 'शूद्र' सब्द का उल्लेख तीसरे 'वर्ण' के रूप में वैदिक काल में देखने को नहीं मिलता है अतः इस बात से यह प्रतयक्ष रूप से समझ आता है की 'चतुर्वर्णीय' व्यवस्था को वेदो में जोड़ा गया हो सकता है, जिसमे चुऔथे वर्ण के रूप में 'शूद्रों' की इस्तिथि तये करना ही प्रमुख कारण रहा हो।

सभी संदर्भों और श्लोकों के आधार पर यह बात साफ़ दिखती है कि शुरुआती ऋग्वेद में "वर्ण" शब्द का इस्तेमाल समाज को किसी तय या कठोर वर्गों में बाँटने के अर्थ में नहीं मिलता। ऋग्वेद में ये शब्द बहुत कम और खास परिस्थितियों में ही मिलते हैं। ऐसे में स्वाभाविक रूप से यह सवाल उठता है कि अगर शुरुआती वेदों में जन्म-आधारित सामाजिक विभाजन या स्पष्ट चातुर्वर्ण्य व्यवस्था का सीधा संकेत नहीं मिलता, तो फिर यह व्यवस्था बनी कैसे? और किन ऐतिहासिक परिस्थितियों या

प्रक्रियाओं के दौरान यह विचार धीरे-धीरे समाज और धर्म की संरचना का हिस्सा बन गया? कुछ विद्वानों का मानना है कि ऋग्वेद के अलग-अलग हिस्सों में समाज की व्यवस्था अलग-अलग स्तरों पर दिखाई देती है, और यह व्यवस्था धीरे-धीरे समय के साथ विकसित हुई होगी। इसी संदर्भ में यह प्रश्न भी महत्वपूर्ण हो जाता है कि जिसे आज सामान्यतः "चातुर्वर्ण्य व्यवस्था" कहा जाता है, वह अपने मूल वैदिक ग्रंथों अथवा प्रारंभिक वैदिक रचनाओं में नहीं दीखता है तो वास्तव में किस रूप में मिलती है। और अगर उसका शुरुआती स्वरूप आज जैसी कठोर सामाजिक व्यवस्था जैसा नहीं था, तो फिर यह वर्तमान रूप कब और कैसे विकसित हुआ?

आगे हम इन्हीं सवालों को सरल भाषा में समझने का प्रयास करेंगे, ताकि यह साफ़ हो सके कि चातुर्वर्ण्य व्यवस्था समय के साथ किन चरणों में विकसित हुई,

चलिए उसके विकास के क्रम को आगे समझते हैं;

उत्तर वैदिक काल: लगभग 1000 से 600 BCE के बीच माना जाता है। बड़ा बदलाव यहीं से शुरू हुआ। इस बदलाव के तेजी से आने का कारण यह था कि इस समय तक कृषि का विस्तार बड़े स्तर पर होने लगा था। इतने बड़े स्तर पर कृषि होने के कारण स्थायी गाँव बनने लगे। लोगों के स्थान स्थायी होने के कारण भूमि सबसे महत्वपूर्ण संसाधन बन गई। जब लोगों का जीवन स्थायी हुआ, तो उनके कार्य भी स्थायी होने लगे। अर्थात एक ही कार्य को एक ही परिवार के लोग पीढ़ी-दर-पीढ़ी करने लगे। इसी क्रम में ब्राह्मणों का कार्य ब्राह्मणों द्वारा, क्षत्रियों का कार्य युद्ध और सुरक्षा से जुड़े कार्यों के रूप में उनके वंशजों द्वारा, वैश्यों का कार्य व्यापार से जुड़े कार्यों के रूप में उनके परिवारों द्वारा, और शूद्रों का कार्य सेवा से जुड़े कार्यों के रूप में पीढ़ी-दर-पीढ़ी किया जाने लगा। समय बीतने के साथ यह स्थिति और अधिक स्थायी होती गई, और लोगों के लिए यह कार्य धीरे-धीरे परंपरागत रूप से अनिवार्य जैसा बन गया। जब सामाजिक परिस्थितियाँ समय के साथ और कठोर होती गईं, और कार्य अधिक स्थायी तथा संरचित होते गए, तब पुरुषसूक्त **ऋग्वेद के पुरुषसूक्त (मंडल 10, सूक्त 90, मंत्र 12)** में वर्णित सामाजिक विभाजन की रूपरेखा को कुछ विद्वान के मत के अनुसार इसी काल जोड़ा गया है। सरल भाषा में, इतिहासकारों के अनुसार उत्तर वैदिक काल में जब समाज कृषि, भूमि और स्थायी गाँवों के कारण धीरे-धीरे वर्गों में बँट रहा था, उसी समय पुरुषसूक्त जैसी वैचारिक रचनाएँ उस व्यवस्था को धार्मिक और वैचारिक आधार देने का कार्य करती हैं। इसलिए कुछ इतिहासकार इसे बाद की वैदिक परत मानते हैं, जो पहले से बदलते समाज को वैधता प्रदान करती है, न कि किसी अचानक नई व्यवस्था की शुरुआत को । और यहाँ यह ध्यान देना आती आवश्यक है हमें की संपूर्ण पुरुषसकता**(मंडल 10, सूक्त 90)** में “जाति” शब्द का प्रयोग कही देखने को नहीं मिलता। अर्थात जातिव्यवस्था जैसी कोई

भी व्यवस्था दिखाई नहीं देती है, हालाँकि यह भी उल्लेखनीय है कि ऋग्वेद में वर्णित चातुर्वर्ण्य व्यवस्था में 'ब्राह्मण' , 'क्षत्रिये' , 'वैश्या' और 'शूद्र' 'वर्णो' का वास्तविक आधार विद्वानों के मतों के आधार और भगवत गीता के श्लोक (अध्याय 4, श्लोक 13) के आधार पर वर्णो का विभाजन मनुस्ये का 'गुण' और 'कर्म' है न किसी व्यक्ति का आधार जन्म है। पुरुषसूक्त में भी वर्ण व्यवस्था को प्रतीकात्मक रूप से समाज के विभिन्न कार्यों के आधार पर प्रस्तुत किया गया है। बाद के समय में, यह व्यवस्था धीरे-धीरे जन्म-आधारित सामाजिक संरचना की ओर विकसित हुई। इस परिवर्तन को समझने के लिए वे किस प्रकार इस कर्म आधारित वर्ण व्यवस्था को जन्म आधारित वर्ण व्यवस्था मैं बदला गया?तो इस पुरुसूक्त की वर्ण व्यवस्था को किस प्रकार जाति-व्यवस्था में रूपांतरण किया गया और इसके व्यापक विकाश की प्रक्रिया किया रही? इससे समझने के लिए पहले धर्मशास्त्रों की उन मूल स्रोतों और ग्रंथों का अध्ययन करना होगा, जिनमें इस व्यवस्था का उल्लेख और उसका औचित्य प्रस्तुत किया गया है।

आइये साथ मिलकर, इस महत्वपूर्ण सामाजिक परिवर्तन को समझने का प्रयाश करे..

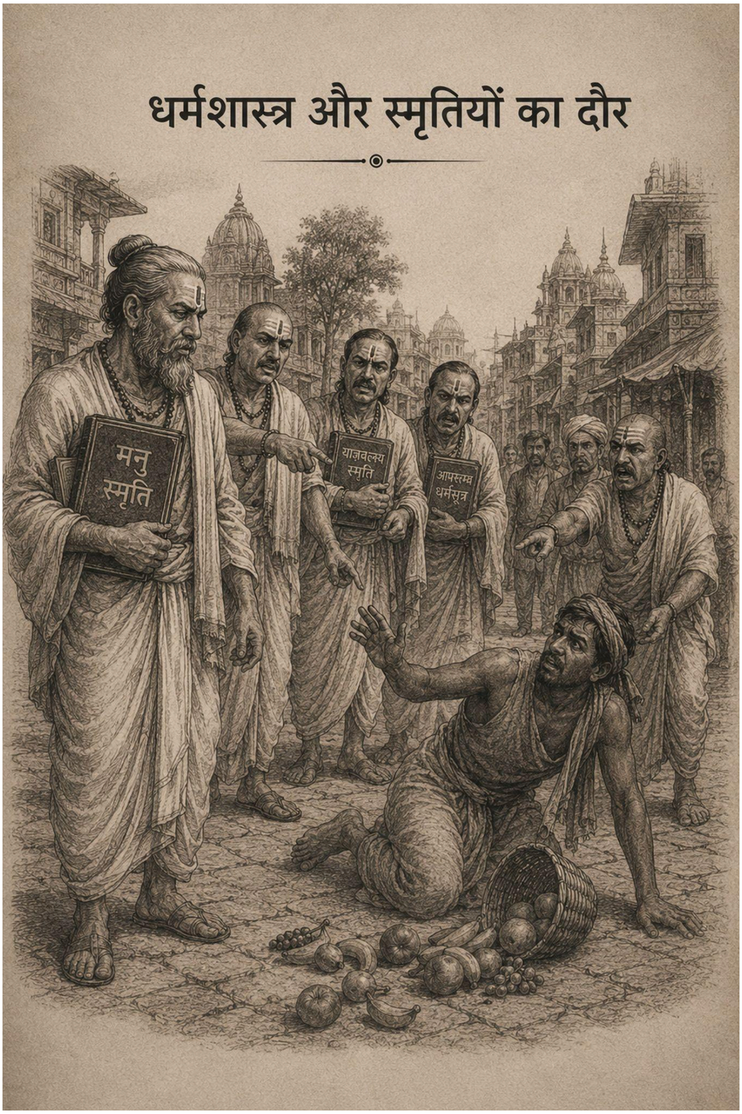

(लगभग 600–200 ईसा पूर्व) – गौतम, आपस्तम्ब, बौधायन, वशिष्ठ और मनुस्मिरीति आदि।

सबसे पहले उन शास्त्रों की श्रेणियों को देखते हैं, जिनकी रचना शास्त्रकाल (लगभग 600 ईसा पूर्व से 200 ईस्वी) के दौरान हुई:

गौतम धर्मसूत्र— लगभग 600–400 ईसा पूर्व (BCE)

बौधायन धर्मसूत् — लगभग 600–400 ईसा पूर्व (BCE)

आपस्तम्ब धर्मसूत्र — लगभग 400–300 ईसा पूर्व (BCE)

वसिष्ठ धर्मसूत्र — लगभग 300–100 ईसा पूर्व

मनुस्मृति — लगभग 200 ईसा पूर्व – 200 ईस्वी (CE)

ऊपर दिए गए धर्मसूत्रों और धर्मग्रंथों को उनके लिखे जाने के कथित क्रम (Chronological Order) के अनुसार रखा गया है। सबसे पहले **गौतम धर्मसूत्र**, फिर **बौधायन धर्मसूत्र**, उसके बाद **आपस्तम्ब धर्मसूत्र**, **वसिष्ठ धर्मसूत्र** और अंत में **मनुस्मृति** को शामिल किया गया है।

इन ग्रंथों को इसी क्रम में पढ़ना इसलिए ज़रूरी है, क्योंकि इससे यह समझना आसान हो जाता है कि समय के साथ वर्ण व्यवस्था में किस तरह बदलाव आए। हर नया ग्रंथ अपने पहले के ग्रंथ की तुलना में सामाजिक नियमों में हुए बदलावों की एक नई तस्वीर सामने रखता है। इसलिए इन सभी ग्रंथों का क्रमवार अध्ययन और विश्लेषण हमें यह समझने में मदद करता है कि कर्म और वर्ण पर आधारित व्यवस्था

धीरे-धीरे जन्म-आधारित जाति व्यवस्था में कैसे बदली और यह बदलाव किन-किन चरणों से होकर विकसित हुआ।

गौतम धर्म सूत्र:

संभवतः यह सबसे प्राचीन धर्मग्रंथों में से एक है। वैदिक काल के बाद लिखे गए शुरुआती धर्मग्रंथों में इसका महत्वपूर्ण स्थान माना जाता है। इसकी प्राचीनता और ऐतिहासिक महत्व का पता इसके कई श्लोकों और उपलब्ध प्रमाणों से चलता है। सबसे पहले हम उन प्रमुख श्लोकों को देखेंगे, जिनसे यह समझने में मदद मिलती है कि यह ग्रंथ कितना प्राचीन है।

स्रोत: गौतम धर्मसूत्र, अध्याय 1, सूत्र 1 (1.1) तथा (1.2)

मंत्र -1:

अथातो धर्मं व्याख्यास्यामः॥

अर्थ: "अब हम धर्म का विस्तृत विवेचन करेंगे।"

मंत्र -2:

वेदो धर्ममूलम्॥

अर्थ: वेद ही धर्म का मूल स्रोत है।

गौतम धर्मसूत्र के इन दोनों सूत्रों से यह स्पष्ट होता है कि यह धर्म की व्यवस्थित व्याख्या करने वाले सबसे प्राचीन धर्मसूत्रों में से एक है। पहले सूत्र में ग्रंथकार धर्म की व्याख्या करने की घोषणा करते हैं, जबकि दूसरे सूत्र में साफ़ कहा गया है कि **वेद ही धर्म का मूल आधार हैं।**

यहीं एक महत्वपूर्ण बात समझने की ज़रूरत है। इन दोनों सूत्रों के अनुसार, इस ग्रंथ में धर्म से जुड़े जो भी नियम, सिद्धांत और व्यवस्थाएँ बताई गई हैं, उनका आधार वेदों को माना गया है। यानी ग्रंथकार यह दावा करते हैं कि उनके द्वारा प्रस्तुत सभी धर्म-संबंधी नियम वेदों के अनुरूप हैं और उन्हीं पर आधारित हैं।

इसी वजह से आगे के सूत्रों का अध्ययन और भी महत्वपूर्ण हो जाता है। आगे आप देखेंगे कि ग्रंथकारों ने किस प्रकार शूद्रों को वेदों के अध्ययन से दूर रखा और उपनयन संस्कार, अन्य धार्मिक संस्कारों, वर्ण-आधारित कर्तव्यों तथा सामाजिक नियमों से जुड़े अनेक विस्तृत निर्देश दिए। इन्हीं सूत्रों के आधार पर हम यह समझने का प्रयास करेंगे कि उस समय की सामाजिक व्यवस्था को किस प्रकार परिभाषित और व्यवस्थित किया गया था।

ब्राह्मण के लिए उपनयन

गौतम धर्मसूत्र 1.5

ब्राह्मणस्य गर्भाष्टमेऽब्दे उपनयनम्।

अर्थ: ब्राह्मण का उपनयन उसके आठवें वर्ष में किया जाना चाहिए

विशेष उद्देश्य होने पर:

गौतम धर्मसूत्र 1.6

अर्थकामयोर्नवमे पञ्चमे वा।

अर्थ: यदि कोई विशेष उद्देश्य हो, तो ब्राह्मण का उपनयन पाँचवें या नौवें वर्ष में भी किया जा सकता है।

क्षत्रिय के लिए

गौतम धर्मसूत्र 1.7

राजन्यस्यैकादशे।

अर्थ: क्षत्रिय का उपनयन ग्यारहवें वर्ष में किया जाना चाहिए।

वैश्य के लिए

गौतम धर्मसूत्र 1.8

वैश्यस्य द्वादशे।

अर्थ: वैश्य का उपनयन बारहवें वर्ष में किया जाना चा

इन सूत्रों में केवल तीन वर्णों—ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य—के उपनयन संस्कार की आयु बताई गई है। वहीं, शूद्र के उपनयन संस्कार का कहीं भी उल्लेख नहीं मिलता। इससे यह स्पष्ट होता है कि इन सूत्रों के अनुसार शूद्र को उपनयन संस्कार और उसके साथ जुड़े वेद-अध्ययन के अधिकार से बाहर रखा गया है।

आगे आने वाले कुछ सूत्र इस बात को और स्पष्ट करते हैं:

10.50

शूद्रश्चतुर्थो वर्ण एकजातिः।

अनुवाद:

"शूद्र चौथा वर्ण है और वह एकजाति (अर्थात् द्विज नहीं) माना गया है।"

10.52

परिचर्या चोत्तराषाम्।

अनुवाद:

"और (उसका कर्तव्य) ऊपर के तीन वर्णों (ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य) की सेवा करना है।"

शूद्र की उपस्थिति में वेद-पाठ संबंधी नियम (गौतम धर्मसूत्र 4.16)

शूद्रसमीपे न चेद् वेदमुदाहरेत्।

अर्थ: यदि समीप में कोई शूद्र उपस्थित हो, तो वहाँ वेद मंत्रों का ऊँचे स्वर में उच्चारण या पाठ नहीं करना चाहिए।

इन चार सूत्रों में गौतम धर्मसूत्र शूद्र की सामाजिक स्थिति और उसके कर्तव्यों के बारे में बताता है। इसमें शूद्र को समाज का चौथा वर्ण माना गया है। साथ ही उसके लिए सत्य बोलना, स्वच्छता बनाए रखना और आचमन जैसे सामान्य नैतिक और आचार-संबंधी नियम बताए गए हैं। इसके अलावा, शूद्र का मुख्य कर्तव्य ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य—इन तीनों वर्णों की परिचर्या (सेवा) करना बताया गया है।

इसके अलावा, गौतम धर्मसूत्र में उपनयन संस्कार से जुड़े कई नियम और व्यवस्थाओं का भी विस्तार से उल्लेख मिलता है। इसमें बताया गया है कि उपनयन संस्कार के बाद एक ब्रह्मचारी को किन-किन नियमों का पालन करना चाहिए, उसका आचरण कैसा होना चाहिए और उसके जीवन के लिए कौन-कौन से कर्तव्य निर्धारित किए गए हैं।

(गौतम धर्मसूत्र 1.15–1.21)

ब्रह्मचारी के वस्त्र और यज्ञोपवीत

उपनयन के समय और उसके बाद ब्रह्मचारी को किस प्रकार के वस्त्र और जनेऊ धारण करने चाहिए, उसका नियम:

सूत्र 1.15: काषायं गव्यं रीतं ब्राह्मणस्य।

अर्थ: ब्राह्मण ब्रह्मचारी को गेरुए रंग के, गाय के दूध जैसी सफेदी वाले या सादे सूती वस्त्र पहनने चाहिए।

सूत्र 1.18: वासः शाणक्षौमचीरकुतपाः।

अर्थ: वस्त्रों के लिए पटुआ (सन), रेशम, हिरण की खाल या ऊन से बने वस्त्रों का उपयोग किया जा सकता है।

सूत्र 1.21: अजिनं वा गव्यं रौरवं बास्तं वा।

अर्थ: ओढ़ने के लिए गाय/बैल, रुरु (हिरण) या बकरे का चर्म (मृगचर्म) धारण करने का नियम है।

इन सूत्रों से यह स्पष्ट होता है कि उपनयन संस्कार को एक निश्चित व्यवस्था के तहत संचालित करने के लिए कई नियम और प्रावधान बनाए गए थे। अब हम गौतम धर्मसूत्र के एक ऐसे महत्वपूर्ण सूत्र को देखेंगे, जो उपनयन संस्कार, उससे जुड़े अधिकार और उसकी व्यवस्था को समझने में विशेष महत्व रखता है। इस सूत्र में उपनयन संस्कार की आयु-सीमा और उसके महत्व का उल्लेख किया गया है।

गौतम धर्मसूत्र 1.11

आषोडशाद् ब्राह्मणस्य सावित्री नातिवर्तते।

अर्थ: ब्राह्मण के लिए सावित्री (उपनयन/गायत्री-दीक्षा) की अधिकतम आयु 16 वर्ष निर्धारित की गई है। इस आयु के बाद उपनयन का निर्धारित समय समाप्त माना जाता है।

गौतम धर्मसूत्र 1.12–1.13

द्वाविंशात् क्षत्रियस्य।
आचतुर्विंशाद् वैश्यस्य।

अर्थ: क्षत्रिय के लिए यह अधिकतम सीमा 22 वर्ष तथा वैश्य के लिए 24 वर्ष निर्धारित की गई है।

इन सूत्रों से यह स्पष्ट होता है कि गौतम धर्मसूत्र में उपनयन संस्कार के लिए केवल पात्रता (योग्यता) ही तय नहीं की गई थी, बल्कि उसे कराने की एक निश्चित आयु-सीमा भी निर्धारित की गई थी। यदि कोई व्यक्ति इस तय समय के भीतर उपनयन संस्कार नहीं कराता, तो उसके लिए आगे आने वाला सूत्र एक महत्वपूर्ण व्यवस्था बताता है।

गौतम धर्मसूत्र 1.14

अत ऊर्ध्वं पतितसावित्रीका भवन्ति।

अर्थ: निर्धारित आयु-सीमा के बाद वे 'पतितसावित्रीक' कहलाते हैं, अर्थात् वे सावित्री (गायत्री) दीक्षा के अधिकार से वंचित माने जाते हैं।

इन सूत्रों से यह स्पष्ट होता है कि गौतम धर्मसूत्र के अनुसार केवल किसी वर्ण में जन्म लेना ही पर्याप्त नहीं माना गया। उस वर्ण से जुड़े धार्मिक अधिकार प्राप्त करने के लिए निर्धारित समय पर उपनयन संस्कार का होना भी आवश्यक समझा गया। यदि कोई ब्राह्मण, क्षत्रिय या वैश्य तय आयु के भीतर उपनयन संस्कार नहीं कराता, तो उसे **'पतितसावित्रीक'** कहा जाता है। इसका प्रभाव उसके धार्मिक अधिकारों और समाज में उसकी धार्मिक स्थिति पर पड़ता है।

इससे पता चलता है कि गौतम धर्मसूत्र में उपनयन संस्कार को केवल एक धार्मिक परंपरा नहीं माना गया, बल्कि इसे व्यक्ति की धार्मिक पात्रता, वेदों के अध्ययन के अधिकार और सामाजिक-धार्मिक पहचान से जुड़ा एक महत्वपूर्ण और अनिवार्य संस्कार माना गया है।

अब तक गौतम धर्मसूत्र के जिन सूत्रों का अध्ययन किया गया है, उनसे कुछ महत्वपूर्ण बातें सामने आती हैं।

सबसे पहले, ऋग्वेद के पुरुषसूक्त में चार वर्णों का उल्लेख मिलता है, लेकिन वहाँ उनके लिए विस्तृत नियम या व्यवस्थाएँ नहीं दी गई हैं।

इसके बाद गौतम धर्मसूत्र उसी वर्ण-व्यवस्था को विस्तार से नियमों के रूप में प्रस्तुत करता है। इसमें बताया गया है कि किसे उपनयन संस्कार का अधिकार होगा, यह संस्कार किस आयु में होगा, कौन वेदों का अध्ययन कर सकता है, अलग-अलग वर्णों के क्या कर्तव्य होंगे और समाज में उनकी क्या भूमिका मानी जाएगी।

दूसरे शब्दों में, गौतम धर्मसूत्र ने वर्ण-व्यवस्था की शुरुआत नहीं की, बल्कि पहले से मौजूद व्यवस्था को स्पष्ट नियमों और लिखित रूप में व्यवस्थित किया। इसका उद्देश्य उस व्यवस्था को निश्चित मानकों के अनुसार संचालित करना था।

इसी कारण अनेक इतिहासकार और शोधकर्ता गौतम धर्मसूत्र को जाति या वर्ण-व्यवस्था की शुरुआत करने वाला ग्रंथ नहीं, बल्कि पहले से प्रचलित व्यवस्था को नियमबद्ध (संहिताबद्ध) करने वाले सबसे प्राचीन और महत्वपूर्ण धर्मग्रंथों में से एक मानते हैं।

अब आगे हम देखेंगे कि बाद के धर्मसूत्रों और स्मृतियों में इन नियमों को किस प्रकार आगे बढ़ाया गया, उनमें क्या परिवर्तन हुए और समय के साथ यह व्यवस्था किस प्रकार और अधिक विस्तृत तथा कठोर होती गई।

बौधायन धर्मसूत् :

अब तक हमने देखा कि गौतम धर्मसूत्र में वर्ण-व्यवस्था से जुड़े कई नियम निर्धारित किए गए थे। बौधायन धर्मसूत्र इन्हीं नियमों को और अधिक स्पष्ट, व्यवस्थित तथा विस्तृत रूप में प्रस्तुत करता है। इससे यह समझने में मदद मिलती है कि जो व्यवस्था पहले मुख्य रूप से सामाजिक नियमों पर आधारित थी, उसे धीरे-धीरे अधिक संगठित और निश्चित स्वरूप दिया जाने लगा। इसी दौरान कुछ ऐसे संकेत भी दिखाई देते हैं, जो बताते हैं कि वर्ण-व्यवस्था धीरे-धीरे जन्म-आधारित जाति-व्यवस्था की दिशा में बढ़ रही थी। बौधायन धर्मसूत्र के कई सूत्र इस परिवर्तन की ओर स्पष्ट संकेत करते हैं।आइए, अब उन प्रमुख सूत्रों का अध्ययन करते हैं, जिनसे यह समझा जा सकता है कि उस समय वर्ण-व्यवस्था में किस प्रकार बदलाव आ रहे थे और वह धीरे-धीरे जन्म-आधारित जाति-व्यवस्था का रूप लेने लगी थी।

माता-पिता के वर्ण से संतान का वर्ण निर्धारित होना:

(बौधायन धर्मसूत्र – द्वितीय प्रश्न, वर्ण-संबंधी प्रसंग)

मूल सूत्र:

सवर्णायां सवर्णाज्जातः सवर्ण एव भवति।

अर्थ:
समान वर्ण की स्त्री और समान वर्ण के पुरुष से उत्पन्न संतान उसी वर्ण की मानी जाती है।

इस सूत्र से यह स्पष्ट होता है कि बौधायन धर्मसूत्र में किसी व्यक्ति का वर्ण उसके जन्म और उसके माता-पिता के वर्ण के आधार पर निर्धारित माना गया है। यानी यहाँ जन्म को विशेष महत्व दिया गया है। यहीं से ऐसे संकेत भी मिलने लगते हैं कि समाज में वर्ण-व्यवस्था को जन्म के आधार पर बनाए रखने पर अधिक ज़ोर दिया जा रहा था। दूसरे शब्दों में, इस समय ऐसी व्यवस्था स्पष्ट रूप से उभरती दिखाई देती है, जिसमें किसी व्यक्ति की सामाजिक पहचान, उसका वर्ण और आगे चलकर उसकी जाति का निर्धारण उसके जन्म के आधार पर किया जाने लगा था।

प्रतिलोम विवाह से उत्पन्न संतान की स्थिति

(बौधायन धर्मसूत्र – द्वितीय प्रश्न, वर्ण-संकर प्रसंग)

मूल सूत्र:

प्रतिलोमास्तु धर्महीनाः।

अर्थ:
प्रतिलोम विवाह (उच्च वर्ण की स्त्री और निम्न वर्ण के पुरुष) से उत्पन्न संतान को धार्मिक अधिकारों से वंचित (धर्महीन) माना गया है।

इस सूत्र से यह स्पष्ट होता है कि बौधायन धर्मसूत्र में प्रतिलोम विवाह, अर्थात् निम्न वर्ण के पुरुष और उच्च वर्ण की स्त्री के विवाह, को धार्मिक दृष्टि से मान्यता नहीं दी गई थी। ऐसे विवाह से जन्मी संतान को भी अन्य लोगों के समान धार्मिक अधिकार प्राप्त नहीं थे। इससे यह समझने में मदद मिलती है कि उस समय विवाह से जुड़े नियम केवल पारिवारिक या

सामाजिक व्यवस्था तक सीमित नहीं थे, बल्कि उनका उपयोग वर्ण-व्यवस्था को बनाए रखने और उसे नियंत्रित करने के लिए भी किया जा रहा था।

अब आगे बढ़ते हैं और दूसरे धर्मसूत्रों को देखते हैं।

आपस्तम्ब धर्मसूत्र:

यह धर्मसूत्र अपने से पहले रचे गए दो प्रमुख धर्मसूत्रों—गौतम धर्मसूत्र और बौधायन धर्मसूत्र—से एक कदम आगे बढ़कर वर्ण-व्यवस्था के बारे में और अधिक स्पष्ट तथा विस्तृत नियम प्रस्तुत करता है। इसी कारण वर्ण-व्यवस्था के विकास और उसके इतिहास को समझने के लिए यह धर्मसूत्र विशेष रूप से महत्वपूर्ण माना जाता है।

इस धर्मसूत्र के सबसे पहले दिए गए इन सूत्रों का ध्यानपूर्वक अध्ययन करें,

मूल संस्कृत सूत्र: (आपस्तम्ब धर्मसूत्र 1.1.1.4-5)

चत्वारो वर्णा ब्राह्मण-क्षत्रिय-वैश्य-शूद्राः।

तेषां पूर्वो पूर्वो जन्मतः श्रेयान्॥

अर्थ: ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र—ये चार वर्ण हैं। इनमें से पहले-पहले आने वाला वर्ण (जैसे शूद्र से वैश्य, वैश्य से क्षत्रिय, क्षत्रिय से ब्राह्मण) अपने जन्म के कारण ही (जन्मतः) स्वभाव से श्रेष्ठ है।

जन्म से ही वर्ण और श्रेष्ठता का निर्धारण

इस सूत्र में साफ़ कहा गया है कि समाज में कौन श्रेष्ठ होगा और कौन निम्न, इसका निर्धारण जन्म के आधार पर किया जाएगा।

अब यहाँ एक महत्वपूर्ण बात पर ध्यान देना ज़रूरी है। यदि हम पहले के वैदिक साहित्य, विशेष रूप से ऋग्वेद के पुरुषसूक्त और भगवद्गीता के उस प्रसिद्ध कथन—**"चातुर्वर्ण्यं मया सृष्टं गुणकर्मविभागशः"**—को याद करें, तो वहाँ चारों वर्णों की व्यवस्था का आधार **गुण और कर्म** बताया गया है। लेकिन जब हम इस धर्मसूत्र के सूत्र **"तेषां पूर्वः पूर्वो जन्मतः श्रेयान्"** का अर्थ देखते हैं—**"जो पहले है, वह जन्म के आधार पर श्रेष्ठ है"**—तो यह स्पष्ट दिखाई देता है कि यहाँ जन्म को ही श्रेष्ठता का आधार माना गया है। अर्थात् इस सूत्र में गुण और कर्म की अपेक्षा जन्म को अधिक महत्व दिया गया है। यही कारण है कि यह सूत्र वर्ण-व्यवस्था के इतिहास को समझने की दृष्टि से विशेष महत्व रखता है। यह उस विचारधारा की ओर संकेत करता है, जिसमें सामाजिक श्रेष्ठता का निर्धारण व्यक्ति के गुण या कर्म से नहीं, बल्कि उसके जन्म से किया जाने लगा। यदि इस सूत्र को ध्यान से पढ़ा जाए, तो **"जन्मतः श्रेयान्"** शब्द स्पष्ट रूप से बताते हैं कि चारों वर्णों के बीच श्रेष्ठता का आधार जन्म माना गया है। इसके अनुसार ब्राह्मण को क्षत्रिय से, क्षत्रिय को वैश्य से और वैश्य को शूद्र से जन्म के आधार पर श्रेष्ठ माना गया है। इस प्रकार, जन्म-आधारित वर्ण-व्यवस्था को स्वीकार करने के बाद आपस्तम्ब धर्मसूत्र में निम्न वर्णों, विशेषकर शूद्रों, की सामाजिक स्थिति को पहले की अपेक्षा अधिक सीमित, अधिकारविहीन और अधीनस्थ रूप में प्रस्तुत किया गया है।

इसका स्पष्ट प्रमाण निम्नलिखित सूत्र में मिलता है—

शूद्रश्वसमीपे च नाधीयीत॥
(आपस्तम्ब धर्मसूत्र 1.3.9.9)

इस सूत्र का अर्थ है कि शूद्र या कुत्ते के पास वेदों का अध्ययन नहीं करना चाहिए। यह नियम केवल शूद्रों को वेद पढ़ने के अधिकार से दूर नहीं रखता, बल्कि उनकी मात्र उपस्थिति को भी वैदिक अध्ययन के लिए अनुचित माना गया है।

यहीं एक महत्वपूर्ण प्रश्न उठता है। आखिर धर्मशास्त्रकारों ने शूद्रों की ऐसी स्थिति किस आधार पर तय की? क्या केवल इसलिए कि उन्हें उपनयन संस्कार के अधिकार से वंचित कर दिया गया था? यदि ऐसा है, तो फिर यह भी जानना ज़रूरी हो जाता है कि शूद्रों का उपनयन संस्कार किसने छीना और किन ऐतिहासिक तथा सामाजिक परिस्थितियों में उनसे यह अधिकार छीन लिया गया। यदि हम इससे पहले देखे गए भगवद्गीता के प्रसिद्ध कथन—**"चातुर्वर्ण्यं मया सृष्टं गुणकर्मविभागशः"**—को ध्यान में रखें, तो यह समझना कठिन हो जाता है की भगवान श्रीकृष्ण के इन शब्दों के विपरीत जाकर आपस्तम्ब धर्मसूत्र के रचनाकारों ने इसे कर्म-आधारित वर्ण से जन्म-आधारित वर्ण क्यों बनाया ? जिसके कारण शूद्रों की स्थिति इतनी बदतर कर दी गई कि उन्हें कुत्तों के समान समझा जाने लगा। यह घृणा और द्वेष की भावना क्यों? जहाँ वर्ण-व्यवस्था का आधार गुण और कर्म बताया गया है, तो आपस्तम्ब धर्मसूत्र के इस प्रकार के नियम एक अलग दिशा की ओर संकेत करते दिखाई देते हैं। यहाँ जन्म के आधार पर सामाजिक भेद को अधिक महत्व दिया गया है,जिसके परिणामस्वरूप शूद्रों की स्थिति अत्यंत निम्न और अधिकारविहीन रूप में दिखाई देती है। विशेष रूप से इस सूत्र में शूद्र और कुत्ते का उल्लेख एक ही निषेधात्मक संदर्भ में किया गया है। इससे उस समय की सामाजिक सोच और शूद्रों के प्रति अपनाए गए दृष्टिकोण का पता चलता है। ऐसे नियम जन्म-आधारित वर्ण-व्यवस्था को धार्मिक आधार प्रदान करते हुए शूद्रों को वैदिक

अधिकारों से दूर रखने और उनकी अधीनस्थ सामाजिक स्थिति को स्थापित करने का कार्य करते हुए दिखाई देते हैं।

संभव है कि अब तक के अध्ययन से आपको यह समझ आने लगी हो कि वर्ण-व्यवस्था समय के साथ किस प्रकार जन्म-आधारित व्यवस्था की ओर बढ़ती गई। आगे हम देखेंगे कि बाद के धर्मसूत्रों और स्मृतियों में यह व्यवस्था किस प्रकार और अधिक कठोर होती गई तथा अंततः एक सुदृढ़ जाति-व्यवस्था का रूप लेने लगी। इस क्रमिक परिवर्तन को बेहतर ढंग से समझने के लिए अब हम आगे के स्रोतों और प्रमाणों का अध्ययन करेंगे।

वसिष्ठ धर्मसूत्र:

वसिष्ठ धर्मसूत्र के रचनाकारों ने भी अपने से पहले के धर्मसूत्रों की परंपरा को आगे बढ़ाते हुए वर्ण-व्यवस्था को स्वीकार किया और जन्म के आधार पर होने वाले सामाजिक विभाजन को बनाए रखा। इससे यह व्यवस्था पहले की तुलना में और अधिक स्पष्ट तथा सुदृढ़ होती दिखाई देती है। आइए, अब वसिष्ठ धर्मसूत्र के उन प्रमुख सूत्रों का अध्ययन करते हैं, जिनसे इस व्यवस्था के स्वरूप और उसके विकास को बेहतर ढंग से समझा जा सकता है।

चार वर्णों की व्यवस्था

चत्वारो वर्णा ब्राह्मणक्षत्रियवैश्यशूद्राः॥
(अध्याय 2, सूत्र 1)

अर्थ: चार वर्ण हैं—ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र।

केवल तीन वर्ण द्विज हैं

त्रयो वर्णा द्विजातयः॥
(अध्याय 2, सूत्र 2)

अर्थ: केवल ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य द्विज हैं। शूद्र को द्विज नहीं माना गया।

उपनयन केवल तीन वर्णों के लिए

तेषां प्रथमं जन्म मातुः, द्वितीयं मौञ्जीबन्धने।

अर्थ: इन तीन वर्णों का पहला जन्म माता से और दूसरा जन्म उपनयन (यज्ञोपवीत) से होता है। इससे शूद्र उपनयन की व्यवस्था से बाहर रहता है।

शूद्र के लिए वैदिक संस्कार नहीं

अध्याय 4 में वैदिक वचन उद्धृत किया गया है कि:

...शूद्रम् अमन्त्रकेण।

अर्थात् शूद्र के संस्कार वैदिक मंत्रों के बिना किए जाएँ।

वसिष्ठ धर्मसूत्र के इन सूत्रों से यह समझने में मदद मिलती है कि समय के साथ वर्ण-व्यवस्था धीरे-धीरे और अधिक कठोर होती जा रही थी। ऐसा लगता है कि धर्मशास्त्रों के माध्यम से इस व्यवस्था को पहले की तुलना में अधिक व्यवस्थित, स्पष्ट और स्थायी रूप दिया जाने लगा था।

इसके परिणामस्वरूप शूद्रों की सामाजिक स्थिति को लगातार निम्न और अधिकारों से वंचित बनाए रखने की प्रवृत्ति दिखाई देती है। साथ ही, इन सूत्रों से यह भी संकेत मिलता है कि जन्म के आधार पर सामाजिक विभाजन को और अधिक मज़बूत किया जा रहा था।

अब तक जिन धर्मसूत्रों का अध्ययन किया गया है, उनसे यह क्रमिक परिवर्तन स्पष्ट दिखाई देता है कि वर्ण-व्यवस्था समय के साथ पहले से अधिक कठोर होती गई। आगे हम देखेंगे कि मनुस्मृति के काल में यही व्यवस्था किस प्रकार और अधिक विकसित होकर एक संगठित तथा कठोर जाति-व्यवस्था के रूप में सामने आती है।

मनुस्मृतिः

अब तक हमने धर्मसूत्रों के माध्यम से यह देखा कि समय के साथ वर्ण-व्यवस्था किस प्रकार धीरे-धीरे अधिक संगठित और कठोर होती गई। अब आइए, धर्मशास्त्रीय परंपरा के सबसे प्रभावशाली स्मृति-ग्रंथों में से एक **मनुस्मृति** का अध्ययन करें, जिसने भारतीय सामाजिक व्यवस्था पर गहरा प्रभाव डाला।

सबसे पहले आप मनुस्मृति के इन मंत्रो को देखे:

ब्राह्मण के कर्तव्य

मनुस्मृति 1.88

अध्यापनमध्ययनं यजनं याजनं तथा ।
दानं प्रतिग्रहं चैव ब्राह्मणानामकल्पयत् ॥

अर्थ

ब्रह्मा ने ब्राह्मणों के लिए छह प्रमुख कर्तव्य निर्धारित किए—वेद पढ़ाना, वेद पढ़ना, यज्ञ करना, यज्ञ कराना, दान देना और दान ग्रहण करना।

शूद्र का कर्तव्य

मनुस्मृति 1.91

एकमेव तु शूद्रस्य प्रभुः कर्म समादिशत् ।
एतेषामेव वर्णानां शुश्रूषामनसूयया ॥ १.९१॥

अर्थ

शूद्र के लिए केवल एक ही मुख्य कर्तव्य निर्धारित किया गया—ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य इन तीनों वर्णों की बिना ईर्ष्या या विरोध के सेवा करना।

शूद्रों के प्रति सामाजिक दूरी और धार्मिक निषेध

मनुस्मृति 4.80

न शूद्राय मतिं दद्यान्नोच्छिष्टं न हविष्कृतम् ।
न चास्योपदिशेद्धर्मं न चास्य व्रतमादिशेत् ॥

अर्थ

शूद्र को धर्म या नीति संबंधी सलाह नहीं देनी चाहिए, उसे अपना जूठा भोजन या यज्ञ का अवशिष्ट भाग नहीं देना चाहिए। उसे धर्म का उपदेश

नहीं देना चाहिए और न ही किसी व्रत या धार्मिक नियम का पालन करने का निर्देश देना चाहिए।

शूद्र को धर्मोपदेश न दिया जाए

मनुस्मृति 4.80

न शूद्राय मतिं दद्यान्नोच्छिष्टं न हविष्कृतम् ।
न चास्योपदिशेद्धर्मं न चास्य व्रतमादिशेत् ॥

अर्थ:
शूद्र को धर्म या नीति की शिक्षा न दी जाए, न उसे यज्ञ का अवशिष्ट दिया जाए, न धर्म का उपदेश दिया जाए और न व्रत का निर्देश।

शूद्र द्वारा द्विज का अपमान

मनुस्मृति 8.270

एकजातिर्द्विजातींस्तु वाचा दारुणया क्षिपन् ।
जिह्वायाः प्राप्नुयाच्छेदं जघन्यप्रभवो हि सः ॥ ८.२७०॥

अर्थ

यदि एकजाति (अर्थात शूद्र) किसी द्विज (ब्राह्मण, क्षत्रिय या वैश्य) का कठोर या अपमानजनक शब्दों से अपमान करे, तो उसकी जीभ काट दी जानी चाहिए; क्योंकि उसे निम्न उत्पत्ति वाला माना गया है।

शूद्र द्वारा धर्म का उपदेश

मनुस्मृति 8.272

धर्मोपदेशं दर्पेण विप्राणामस्य कुर्वतः ।
तप्तमासेचयेत्तैलं वक्त्रे श्रोत्रे च पार्थिवः ॥

अर्थ:
यदि शूद्र अहंकारपूर्वक ब्राह्मणों को धर्म का उपदेश दे, तो राजा उसके मुख और कानों में तप्त तेल डालने का दण्ड दे।

ऊँची जाति का नाम लेकर अपमान करना

मनुस्मृति 8.271

नामजातिग्रहं त्वेषामभिद्रोहेण कुर्वतः ।
निक्षेप्योऽयोमयः शङ्कुर्ज्वलन्नास्ये दशाङ्गुलः ॥

अर्थ

यदि कोई शूद्र घृणा या अपमान के भाव से उच्च वर्ण के व्यक्ति का नाम या जाति लेकर उसका अपमान करे, तो उसके मुख में दस अंगुल लंबी तप्त लोहे की कील डाल देने का विधान बताया गया है।

सबसे पहले, इन श्लोकों को पढ़ने के बाद किसी भी व्यक्ति के मन में यह प्रश्न उठ सकता है कि क्या वास्तव में समाज के किसी वर्ग के साथ ऐसा व्यवहार किया जाता था। लंबे समय तक **मनुस्मृति** को समाज के लिए एक महत्वपूर्ण आचार-संहिता के रूप में देखा जाता रहा। इसमें समाज के अलग-अलग वर्गों के लिए अलग नियम, अधिकार और कर्तव्यों का वर्णन मिलता है। इससे यह समझ आता है कि उस समय सामाजिक व्यवस्था को एक निश्चित ढांचे में व्यवस्थित करने का प्रयास किया गया था। मनुस्मृति के इन श्लोकों का अध्ययन करने पर यह भी प्रतीत होता है कि इस समय तक वर्ण-व्यवस्था पहले की अपेक्षा अधिक

स्पष्ट रूप से जन्म-आधारित व्यवस्था का रूप ले चुकी थी। यदि अब तक हमने जिन धर्मसूत्रों और उनके नियमों का अध्ययन किया है, उन्हें मनुस्मृति के इन श्लोकों के साथ जोड़कर देखा जाए, तो यह क्रमिक परिवर्तन और अधिक स्पष्ट दिखाई देता है। इससे यह समझने में मदद मिलती है कि समय के साथ जन्म-आधारित सामाजिक व्यवस्था को लगातार अधिक व्यवस्थित और सुदृढ़ बनाया गया। इन व्यवस्थाओं का प्रभाव विशेष रूप से शूद्रों की सामाजिक स्थिति पर दिखाई देता है। अध्ययन किए गए सूत्रों और श्लोकों से यह संकेत मिलता है कि उनके अधिकार सीमित किए गए और समाज में उनकी भूमिका को एक निश्चित दायरे तक सीमित रखने का प्रयास किया गया। इससे यह भी अनुमान लगाया जा सकता है कि उस समय की सामाजिक और जातिगत व्यवस्था कितनी कठोर और अनुशासित रूप ले चुकी थी।

अब हमारा धर्मशास्त्रों के अध्ययन का यह चरण समाप्त होता है। इस पूरे अध्ययन में हमने यह समझने का प्रयास किया कि जहाँ प्रारंभिक चातुर्वर्ण व्यवस्था का आधार गुण और कर्म बताया जाता है, वहीं बाद के धर्मशास्त्रों—जैसे **गौतम धर्मसूत्र, बौधायन धर्मसूत्र, आपस्तम्ब धर्मसूत्र, वसिष्ठ धर्मसूत्र** और विशेष रूप से **मनुस्मृति**—में जन्म-आधारित सामाजिक पहचान और जन्म-आधारित वर्ण-व्यवस्था को अधिक स्पष्ट, व्यवस्थित और सुदृढ़ रूप में प्रस्तुत किया गया है। इन धर्मशास्त्रों के अध्ययन से ऐसे संकेत मिलते हैं कि समय के साथ समाज में जन्म-आधारित जाति-व्यवस्था को अधिक स्थायी और कठोर आधार दिया जाने लगा। इसी क्रम में विवाह से जुड़े नियम भी जन्म, वर्ण और जाति के आधार पर निर्धारित किए गए। अपनी ही जाति या वर्ण में विवाह करने पर ज़ोर दिया गया, जबकि इसके बाहर विवाह करने वालों के लिए सामाजिक बहिष्कार और विभिन्न प्रकार के सामाजिक दंड का उल्लेख मनुस्मृति तथा अन्य धर्मशास्त्रों में मिलता है।

अब आगे हम यह समझने का प्रयास करेंगे कि यह सामाजिक व्यवस्था समय के साथ किस प्रकार और विकसित हुई, किन-किन चरणों से गुज़री और कैसे आगे चलकर एक अधिक कठोर जाति-व्यवस्था के रूप में स्थापित होती गई। साथ ही, हम यह भी देखेंगे कि इस व्यवस्था को किन सामाजिक, धार्मिक और ऐतिहासिक प्रक्रियाओं के माध्यम से लगातार मज़बूत किया गया।

आइए, उन्हें क्रमवार समझें..

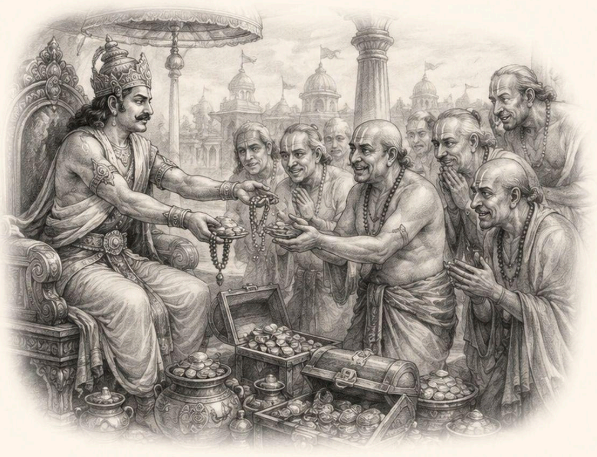

- : गुप्त काल (लगभग 300 से 600 ईस्वी) :-

गुप्त काल में जाति-व्यवस्था पहले की तुलना में और अधिक संगठित तथा कठोर होती दिखाई देती है। कई इतिहासकारों का मानना है कि इसका एक प्रमुख कारण यह था कि इस काल में शासकों द्वारा ब्राह्मणों को बड़े पैमाने पर धन-संपदा, भूमि दान और राजकीय संरक्षण प्रदान किया गया। इससे ब्राह्मणों का सामाजिक, आर्थिक और धार्मिक प्रभाव लगातार बढ़ता गया।भूमि अनुदान मिलने के कारण ग्रामीण अर्थव्यवस्था और स्थानीय प्रशासन में भी उनका प्रभाव बढ़ने लगा। इसी दौर में धर्मशास्त्रों और स्मृतियों की व्याख्याओं के माध्यम से वर्ण-व्यवस्था को सामाजिक व्यवस्था के रूप में अधिक व्यापक रूप से प्रस्तुत किया गया। इससे जन्म-आधारित सामाजिक विभाजन को और अधिक मजबूती मिलने लगी। ऐसा प्रतीत होता है कि जिन विद्वानों और परंपराओं ने धर्मशास्त्रों तथा स्मृतियों की रचना और व्याख्या की, उन्होंने समय के साथ इन व्यवस्थाओं को बनाए रखने और उन्हें अधिक सुदृढ़ करने में भी महत्वपूर्ण भूमिका निभाई। ऐसा प्रतीत होता है के जिन ब्राह्मण वर्गों के पूर्वजो द्वारा धर्मशास्त्र और स्मृतियों का निर्माण हुआ था, उसी ब्राह्मण वर्ग के लोगों द्वारा अपनी सामाजिक स्थितियो के दबदबा को बनाए रखने के लिए इस जातीय व्यवस्था को और अधिक कठोर बनाते चले गए। ब्राह्मण वर्गों के दवारा धीरे-धीरे इसी काल में शास्त्रों की व्याख्याओं के माध्यम से वर्ण व्यवस्था को सामाजिक विभाजन के रूप में प्रस्तुत किया जाने लगा, जिसके आधार पर इसे जन्म-आधारित जातीय विभाजन में बदलने की प्रक्रिया को और बल मिला। परिणामस्वरूप, सामाजिक संरचना में जाति और उपजातियों का विभाजन पहले की अपेक्षा अधिक स्पष्ट और कठोर होता गया। इसके प्रभाव से विभिन्न सामाजिक समूहों के बीच दूरी बढ़ने लगी और सामाजिक संपर्क सीमित होते गए। समाज धीरे-धीरे ऐसी व्यवस्था की ओर बढ़ने लगा, जिसमें जन्म के आधार पर व्यक्ति की सामाजिक पहचान और स्थान अधिक स्थायी रूप से निर्धारित किए जाने लगे। इस प्रकार, गुप्त काल में हुए सामाजिक,

आर्थिक और धार्मिक परिवर्तनों के साथ जाति-व्यवस्था पहले की अपेक्षा अधिक संगठित, व्यापक और कठोर रूप में विकसित होती दिखाई देती है।

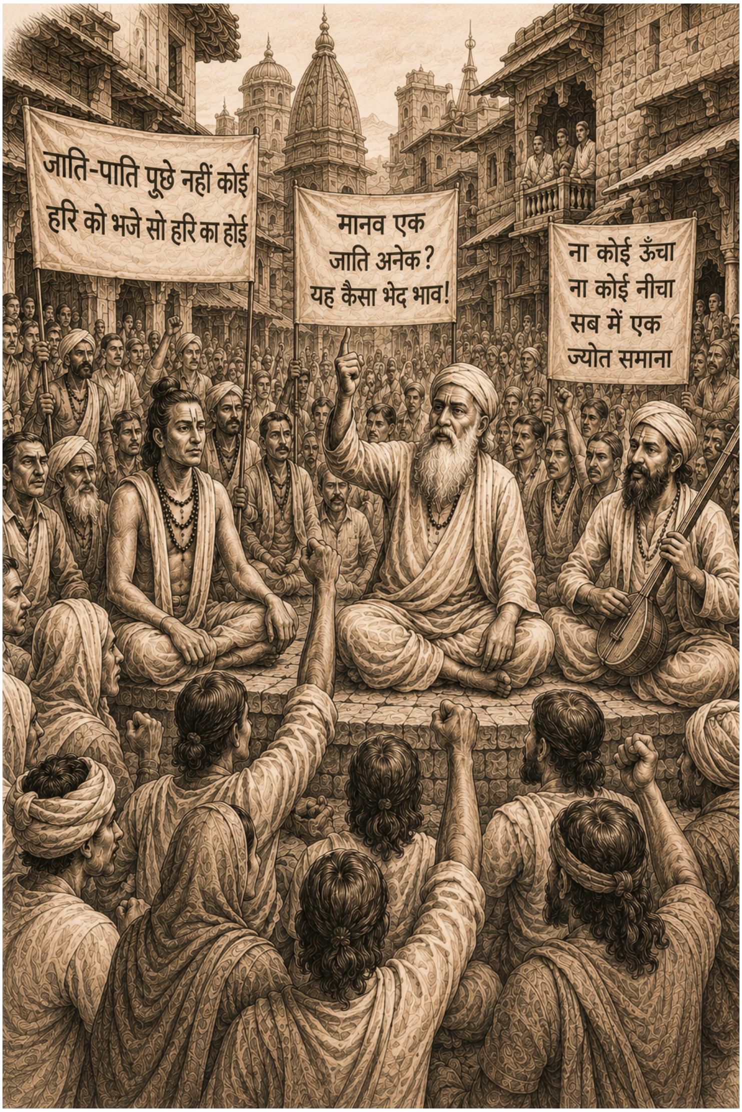

-: मध्यकालीन भारत- "व्यापक भक्ति आंदोलन"

मध्यकाल, 600 से लेकर 1700 ई.सी.ई:

मध्यकाल तक आते-आते जाति-व्यवस्था पहले की तुलना में और अधिक कठोर रूप ले चुकी थी। समय के साथ कई पेशे वंशानुगत हो गए, जातियों के बीच सामाजिक दूरी बढ़ने लगी और ग्रामीण समाज एक सख्त जाति-आधारित ढांचे में बंधता चला गया। इसी दौर में इस सामाजिक व्यवस्था के विरोध में एक व्यापक भक्ति आंदोलन भी उभरकर सामने आया। इस आंदोलन का उद्देश्य लोगों को ईश्वर की भक्ति के माध्यम से समानता, मानवता और जातिगत भेदभाव से ऊपर उठने का संदेश देना था। दक्षिण भारत में छठी से नौवीं शताब्दी के बीच आलवार और नयनार संतों ने भक्ति आंदोलन को आगे बढ़ाया। इसके बाद उत्तर भारत में 12वीं से 17वीं शताब्दी के बीच भक्ति आंदोलन ने व्यापक रूप लिया। इस दौर में संत रामानंद ने जातिगत भेदभाव का विरोध किया।जबकि संत रविदास ने समानता, सम्मान और भक्ति का संदेश दिया। इसी परंपरा में गुरु नानक देव और मीराबाई जैसे संतों ने भी जातिगत भेदभाव का विरोध करते हुए मानव समानता और भक्ति को सबसे बड़ा धर्म बताया। इन संतों का मानना था कि जाति-व्यवस्था ने भारतीय समाज को अनेक भागों में बाँट दिया है। उनका संदेश था कि मनुष्य की पहचान उसके जन्म से नहीं, बल्कि उसके कर्म, आचरण और भक्ति से होनी चाहिए। उस समय की जाति-व्यवस्था का अंदाज़ा इस बात से भी लगाया जा सकता है कि संत कबीर के जन्म को लेकर आज तक अलग-अलग कहानियाँ प्रचलित हैं। एक प्रसिद्ध कथा के अनुसार उनका जन्म एक विधवा ब्राह्मणी के यहाँ हुआ था और बाद में नीरू-नीमा नामक जुलाहा दंपति ने उनका पालन-पोषण किया। लेकिन प्रसिद्ध साहित्यकार डॉ. धर्मवीर इस कहानी को सही नहीं मानते। उनका कहना है कि कबीर को विधवा ब्राह्मणी का पुत्र और रामानंद का शिष्य बताने वाली बातें बाद में जोड़ी गई, क्योंकि उस समय का जातिगत समाज यह

स्वीकार करने के लिए तैयार नहीं था कि जुलाहा (दलित) परिवार से भी कोई व्यक्ति इतना महान संत, कवि और विचारक हो सकता है।

यद्यपि भक्ति आंदोलन ने जाति-आधारित भेदभाव को नैतिक, सामाजिक और आध्यात्मिक स्तर पर गंभीर चुनौती दी, फिर भी वह तत्कालीन सामाजिक व्यवस्था को पूरी तरह समाप्त नहीं कर सका। इसके बावजूद, इस आंदोलन ने समानता, मानवता और सामाजिक न्याय की चेतना फैलाने में महत्वपूर्ण भूमिका निभाई और भारतीय समाज में परिवर्तन की एक नई सोच को जन्म दिया।

उपनिवेशिक एवं आधुनिक काल:

इस दौर में ब्रिटिश शासन ने जाति-व्यवस्था को अधिक कठोर और औपचारिक बना दिया। अब लोगो को केवल सामाजिक पहचान तक सीमित नहीं रखा, बल्कि उसे सरकारी रिकॉर्ड और प्रशासन का भी हिस्सा बना दिया। जिससे व्यक्ति अपनी जाती को लेकर और अधिक सजग और सवेंदन हो गया। ब्रिटिश सरकार ने ऐसा कर लोगो में हज़ारो सालों से चलती आ रही है इस जाती व्यवस्था की कट्टर अवधारणाओं को हमेशा के लिए औपचारिक रूप से बाँट दिया। इस बटवारे के पीछे की अंशा का अंदाज़ा आप 1901 की जनगणना के प्रमुख ब्रिटिश अधिकारी 'हर्बर्ट होप रिस्ले' (H. H. Risley) द्वारा दिया गया इस बयां से आप लगा सकते है। रिसले का कहना था की 'जाति तो जन्म से मिलने वाली सामाजिक नस्लीय पहचान है उस्का वर्गीकरण आवश्यक है। लोगो को अपनी जाती नस्लीयता बनाये रखनी चाहिए' ऐसी सोच के साथ इस जातीय भेदभाव के अनेक रूपों को वर्गीकृत किया गया। हालाँकि, इस दृष्टिकोण से सभी विद्वान सहमत नहीं थे। **डॉ.**

भीमराव आंबेडकर ने अपनी रचनाओं Castes in India (1916) और Annihilation of Caste (1936) में रिस्ले के नस्लीय सिद्धांत का विरोध करते हुए कहा कि भारतीय जातियाँ अलग-अलग नस्लें नहीं हैं, बल्कि जाति की वास्तविक नींव **अंतर्विवाह (Endogamy)** है। उनके अनुसार जाति-व्यवस्था एक लंबी सामाजिक और ऐतिहासिक प्रक्रिया का परिणाम है, न कि केवल नस्ल या किसी एक धार्मिक ग्रंथ की देन। आश्चर्य की बात है की इस जाति भेद-भाव के वर्गीकरण को भारत की आज़ादी के बाद भी तत्कालीन सरकारों ने जातियों की औपचारिक की मान्यता बनाये रखी है।

इसी कारण अनेक इतिहासकारों—जैसे आर. एस. शर्मा, रोमिला थापर, डी. डी. कोसंबी, ए. एल. बाशम और डॉ. आंबेडकर—का मानना है कि जाति-व्यवस्था का वर्तमान स्वरूप एक दिन में नहीं बना, बल्कि सामाजिक, आर्थिक, धार्मिक और राजनीतिक परिस्थितियों के प्रभाव से धीरे-धीरे विकसित हुआ। इसी आधार पर यह भी कहा जाता है कि किसी भी जाति को जन्म से स्वभावतः शुद्ध या अशुद्ध मानने का कोई ठोस ऐतिहासिक आधार नहीं है। इसके अतिरिक्त, जिस चातुर्वर्ण्य व्यवस्था को बाद के समय में जाति व्यवस्था का आधार माना गया, उसके संबंध में भी अनेक इतिहासकारों और वैदिक विद्वानों के बीच मतभेद हैं। विशेष रूप से ऋग्वेद के पुरुषसूक्त (ऋग्वेद 10.90) की प्राचीनता तथा उसके प्रारम्भिक ऋग्वैदिक संकलन का अंग होने या न होने को लेकर भी विद्वानों में विभिन्न मत पाए जाते हैं।अतः यह प्रश्न स्वाभाविक रूप से उठता है कि क्या पुरुषसूक्त वास्तव में ऋग्वेद के मूल एवं प्राचीनतम भाग का अंग है? और यदि नहीं, तो क्या चातुर्वर्ण्य व्यवस्था को ऋग्वैदिक काल (प्रारंभिक वैदिक काल) की व्यवस्था कहा जा सकता है? यदि स्वयं चातुर्वर्ण्य व्यवस्था का आधार माने जाने वाले पुरुषसूक्त (ऋग्वेद 10.90) की प्राचीनता तथा उसके ऋग्वैदिक काल संकलन का भाग होने या न होने पर ही विद्वानों में मतभेद हैं,यदि चातुर्वर्ण्य व्यवस्था स्वयं ही विवाद का विषय है, तो जाति व्यवस्था को मूल ऋग्वेद पर आधारित कैसे माना जा सकता है? अतएव यह भी जानना अतिआवश्यक है की,

(ख) क्या वर्ण व्यवस्था स्वयं भी विवादों से मुक्त रही है?

इन आधुनिक विद्वानों का सामान्य निष्कर्ष यह है कि पुरुषसूक्त ऋग्वेद का अभिन्न भाग है, किन्तु उसका रचनाकाल ऋग्वेद के प्राचीनतम सूक्तों की अपेक्षा बाद का अथवा प्रारंभिक रिग वेद का भाग नहीं है। **आइए, सबसे पहले यह जानते हैं कि इस विषय पर प्राचीन और आधुनिक इतिहासकारों तथा वैदिक विद्वानों का वास्तविक मत क्या है। पुरुषसूक्त (ऋग्वेद 10.90)** के रचनाकाल और उसकी प्रामाणिकता को लेकर विद्वानों के विचार एक जैसे नहीं हैं। उनके मतों का अध्ययन करने पर उन्हें मुख्यतः तीन समूहों में रखा जा सकता है।

प्रथम समूह – पुरुषसूक्त को ऋग्वेद की अपेक्षाकृत बाद की (उत्तरकालीन) रचना मानने वाले विद्वान

इस समूह के विद्वानों का मानना है कि पुरुषसूक्त ऋग्वेद का भाग तो है, लेकिन इसकी भाषा, शैली, विचार और समाज का चित्रण ऋग्वेद के प्राचीन सूक्तों की तुलना में अधिक विकसित दिखाई देता है। इसी कारण वे इसे ऋग्वेद के आरंभिक काल की नहीं, बल्कि अपेक्षाकृत बाद के समय की रचना मानते हैं।

इस मत का समर्थन करने वाले प्रमुख विद्वान हैं—

- **फ्रेडरिक मैक्स मूलर (Friedrich Max Müller)** – उन्होंने पुरुषसूक्त को comparatively modern in character and diction अर्थात् भाषा और शैली की दृष्टि से अपेक्षाकृत नवीन बताया।
- **हरमन ओल्डेनबर्ग (Hermann Oldenberg)** – उन्होंने भी भाषा और विषयवस्तु के आधार पर पुरुषसूक्त को ऋग्वेद की बाद की रचना माना।

- **आर्थर एंथनी मैकडॉनेल (Arthur Anthony Macdonell)** – उनके अनुसार ऋग्वेद का दशम मंडल अपेक्षाकृत नया है और पुरुषसूक्त उस समय के अधिक विकसित समाज का चित्र प्रस्तुत करता है।
- **आर्थर बेरिडेल कीथ (Arthur Berriedale Keith)** – उन्होंने भी माना कि पुरुषसूक्त में वर्णित चार-वर्ण व्यवस्था समाज के अपेक्षाकृत विकसित चरण को दर्शाती है।

द्वितीय समूह – ऋग्वेद को कई चरणों (Layers) में विकसित हुआ ग्रंथ मानने वाले विद्वान

इस समूह के विद्वानों का मानना है कि ऋग्वेद किसी एक समय में नहीं लिखा गया, बल्कि कई पीढ़ियों तक उसकी रचना, संरक्षण और संकलन होता रहा। इसलिए उसके सभी मंडल और सूक्त एक ही काल के नहीं हैं। उनके अनुसार पुरुषसूक्त भी ऋग्वेद की अपेक्षाकृत बाद की परत (Later Layer) से संबंधित है।

इस समूह के प्रमुख विद्वान हैं—

- **माइकल विट्ज़ेल (Michael Witzel)** – उनके अनुसार ऋग्वेद में कई ऐतिहासिक परतें हैं और पुरुषसूक्त उसकी उत्तरकालीन परतों में रखा जा सकता है।
- **स्टेफ़नी डब्ल्यू. जैमिसन (Stephanie W. Jamison)** – उनका मत है कि ऋग्वेद एक लंबी मौखिक परंपरा का परिणाम है, इसलिए उसके विभिन्न सूक्त अलग-अलग समय में रचे गए।

- **जोएल पी. ब्रेरेटन (Joel P. Brereton)** – वे भी ऋग्वेद को बहुस्तरीय मौखिक परंपरा का ग्रंथ मानते हैं और पुरुषसूक्त को उसकी बाद की परतों में रखते हैं।
- **रामचंद्र नारायण दांडेकर (R. N. Dandekar)** – उन्होंने भी स्वीकार किया कि वैदिक साहित्य का विकास अलग-अलग कालों में हुआ और उसमें विभिन्न ऐतिहासिक परतें मौजूद हैं।

तृतीय समूह – पुरुषसूक्त को ऋग्वेद में बाद में जोड़ा गया मानने वाले विद्वान

इस समूह में सबसे प्रमुख नाम **डॉ. भीमराव आंबेडकर** का है।

डॉ. आंबेडकर ने अपनी प्रसिद्ध पुस्तक Who Were the Shudras? में यह मत प्रस्तुत किया कि पुरुषसूक्त ऋग्वेद की मूल रचना नहीं था, बल्कि इसे बाद में जोड़ा गया। उनके अनुसार जब तक पुरुषसूक्त की रचना हुई, तब तक **चातुर्वर्ण्य व्यवस्था** पहले से स्थापित हो चुकी थी।

उनका तर्क था कि इस सामाजिक व्यवस्था को वैदिक और दैवी आधार देने के उद्देश्य से पुरुषसूक्त की रचना की गई, जिसमें चारों वर्णों की उत्पत्ति एक ही पुरुष के विभिन्न अंगों से बताई गई। विशेष रूप से शूद्रों को पुरुष के चरणों से उत्पन्न बताकर उनकी तत्कालीन सामाजिक स्थिति को धार्मिक मान्यता प्रदान करने का प्रयास किया गया। डॉ. आंबेडकर के इन तर्कों का विस्तृत अध्ययन हम आगे करेंगे।

विभिन्न इतिहासकारों और विद्वानों द्वारा पुरुषसूक्त की प्रामाणिकता तथा उसके काल-निर्धारण को लेकर अनेक मत प्रस्तुत किए गए हैं। इन मतों के बीच डॉ. भीमराव रामजी अंबेडकर का विश्लेषण अपनी तार्किकता और ऐतिहासिक दृष्टि के कारण विशेष रूप से उल्लेखनीय प्रतीत होता है। उन्होंने अपनी प्रसिद्ध पुस्तक **Who Were the Shudras? (शूद्र कौन थे?)** में यह प्रतिपादित करने का प्रयास किया कि पुरुषसूक्त ऋग्वेद का मूल भाग नहीं था, बल्कि उसे बाद के समय में जोड़ा गया अथवा कम-से-कम उसका उपयोग चातुर्वर्ण्य व्यवस्था को वैदिक वैधता प्रदान करने के लिए किया गया। चूँकि यह पुस्तक डॉ. अंबेडकर के शोध और विचारों से प्रभावित है,इसलिए यह समझना आवश्यक है कि उन्होंने अपने इस निष्कर्ष के समर्थन में कौन-कौन से तर्क प्रस्तुत किए। साथ ही यह भी देखना आवश्यक है कि पुरुषसूक्त तथा उसमें वर्णित चातुर्वर्ण्य व्यवस्था को ऋग्वेद का मूल सिद्धांत मानने के विरुद्ध उन्होंने क्या आधार दिए। इन्हीं तर्कों को हम आगे सरल भाषा में समझने का प्रयास करेंगे।

पुरुषसूक्त की पहेलियाँ : डॉ. अंबेडकर की दृष्टि से,

डॉ.अंबेडकर के अनुसार प्रारंभिक वैदिक समाज में मूलतः केवल तीन वर्ण—ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य—विद्यमान थे। उनके मत में शूद्र कोई पृथक चौथा वर्ण नहीं थे, बल्कि वे क्षत्रिय वर्ग की ही एक शाखा थे। उन्होंने यह भी तर्क दिया कि शूद्र राजाओं और ब्राह्मणों के बीच लंबे समय तक संघर्ष चलता रहा। इसी ऐतिहासिक संघर्ष की पृष्ठभूमि में, उनके अनुसार, पुरुषसूक्त को बाद में जोड़ा गया अथवा उसका उपयोग इस प्रकार किया गया कि चातुर्वर्ण्य व्यवस्था को वैदिक आधार प्रदान किया जा सके और शूद्रों को सामाजिक श्रेणीक्रम में सबसे निम्न स्थान पर स्थापित किया जा सके। डॉ. अंबेडकर के अनुसार पुरुषसूक्त एक साधारण वैदिक सूक्त नहीं है। उनके मत में यह अनेक ऐसे प्रश्न और विरोधाभास प्रस्तुत करता है, जिनके कारण इसकी रचना, उद्देश्य और स्थान पर गंभीर विचार करना आवश्यक हो जाता है। उनका कहना है कि जब हम पुरुषसूक्त की तुलना ऋग्वेद के अन्य सूक्तों से करते हैं, तो कई ऐसी बातें सामने आती हैं जो इसे अलग और विवादास्पद बनाती हैं।

डॉ. आंबेडकर ने अपनी पुस्तक **Who Were the Shudras? (शूद्र कौन थे?)** में पुरुषसूक्त के श्लोकों की ऋग्वेद के अन्य श्लोकों से तुलना करते हुए उनका एक आलोचनात्मक (Critical) विश्लेषण प्रस्तुत किया है। आइए देखें कि उन्होंने इस विषय को किस प्रकार समझने का प्रयास किया है।

सबसे पहले ऋग्वेद के इन मंत्रों पर ध्यान दें --

ऋग्वेद मंडल 10, सूक्त 72 , मंत्र 2

ब्रह्मणस्पतिरेता सं कर्मार इवाधमत्।
देवानां पूर्व्ये युगेऽसतः सदजायत॥

अर्थ:

"देवों के प्रारम्भिक युग में ब्रह्मणस्पति ने, जैसे कोई लोहार धौंकनी चलाकर अग्नि को प्रज्वलित करता है, वैसे ही (सृष्टि के तत्त्वों को) गतिशील किया; और उस समय असत् (अव्यक्त) से सत् (व्यक्त) की उत्पत्ति हुई।"

भावार्थ:

इस मंत्र में सृष्टि की रचना का वर्णन **ब्रह्मणस्पति** के माध्यम से किया गया है। यहाँ लोहार की धौंकनी का उदाहरण एक **उपमा** है। जैसे लोहार धौंकनी चलाकर अग्नि को प्रज्वलित करता है और उससे धातु को आकार देता है, उसी प्रकार ब्रह्मणस्पति ने सृष्टि के प्रकट होने की प्रक्रिया का आरम्भ किया। इसके परिणामस्वरूप **अव्यक्त (असत्)** से **व्यक्त (सत्)** की उत्पत्ति हुई।

ऋग्वेद मंडल 10, सूक्त 90 (पुरुषसूक्त), मंत्र 5

तस्माद् विराडजायत विराजो अधि पुरुषः।
स जातो अत्यरिच्यत पश्चाद् भूमिमथो पुरः॥

अर्थ:

“उस (आदिपुरुष) से विराट की उत्पत्ति हुई और विराट से पुनः पुरुष उत्पन्न हुआ। उत्पन्न होकर वह पुरुष चारों ओर फैल गया तथा उसने पृथ्वी के पीछे और आगे (अर्थात् समस्त दिशाओं में) अपना विस्तार किया।“

भावार्थ:

इस मंत्र में सृष्टि की उत्पत्ति का सांकेतिक वर्णन किया गया है। इसके अनुसार **आदिपुरुष** से **विराट** (समस्त दृश्य ब्रह्माण्ड या विश्वरूप) की उत्पत्ति हुई। फिर उसी **विराट** से पुनः **पुरुष** प्रकट हुआ। इसके बाद वह पुरुष समस्त पृथ्वी और समस्त दिशाओं में व्याप्त होकर सम्पूर्ण जगत में फैल गया।

ऋग्वेद के **दशम मंडल, 72वें सूक्त के दूसरे मंत्र** में सृष्टि की उत्पत्ति का एक भिन्न वर्णन मिलता है। इस मंत्र के अनुसार, **ब्रह्मणस्पति (बृहस्पति)** ने उसी प्रकार सृष्टि का विस्तार किया, जैसे कोई लोहार धौंकनी चलाकर लोहे को तपाता है। अर्थात, जिस प्रकार धौंकनी के माध्यम से अग्नि प्रज्वलित होकर लोहे को आकार देती है, उसी प्रकार बृहस्पति ने सृष्टि का विस्तार किया। उस समय **असत (अव्यक्त)** से **सत (व्यक्त)** की उत्पत्ति हुई।

अब दूसरी ओर **ऋग्वेद के दशम मंडल के 90वें सूक्त (पुरुषसूक्त) के पाँचवें मंत्र** पर ध्यान दें। इसमें कहा गया है—

"तस्माद् विराडजायत, विराजो अधि पुरुषः।"

अर्थात, **उस पुरुष से विराट की उत्पत्ति हुई और विराट से पुनः पुरुष प्रकट हुआ। उसी पुरुष से पृथ्वी तथा समस्त जगत का विस्तार हुआ।**

जब इन दोनों ऋग्वैदिक वर्णनों का ध्यानपूर्वक अध्ययन किया जाता है, तब स्वाभाविक रूप से एक महत्वपूर्ण प्रश्न मन में उठता है।

विश्व की उत्पत्ति के संबंध में ऋग्वेद के भीतर ही दो भिन्न सिद्धांत कैसे प्रस्तुत किए गए हैं?

एक ओर ऋग्वेद के 72वें सूक्त में सृष्टि की उत्पत्ति का आधार एक सिद्धांत है, जबकि दूसरी ओर पुरुषसूक्त (90वें सूक्त) में सृष्टि की उत्पत्ति का आधार **पुरुष** को बताया गया है। यदि दोनों ही ऋग्वेद के अंग हैं, तो विश्व-उत्पत्ति के संबंध में दो परस्पर भिन्न वर्णन क्यों मिलते हैं?

इसे एक सरल उदाहरण से समझा जा सकता है। मान लीजिए, किसी पुस्तक में एक स्थान पर **A का अर्थ "A"** बताया गया हो, जबकि उसी पुस्तक के दूसरे स्थान पर **C का अर्थ भी "A"** बताया जाए। ऐसी स्थिति में स्वाभाविक रूप से प्रश्न उठेगा कि एक ही ग्रंथ में एक ही विषय के दो भिन्न अर्थ कैसे स्वीकार किए जा सकते हैं?

पुरुषसूक्त में कहा गया है कि सम्पूर्ण विश्व की रचना विराट पुरुष के यज्ञ से हुई। इसके विपरीत ऋग्वेद के ही दसवें मण्डल के 72वें सूक्त में सृष्टि की उत्पत्ति का वर्णन बिल्कुल अलग ढंग से मिलता है। वहाँ सृष्टि की शुरुआत शून्य (असत्) से होती है, फिर क्रमशः देवताओं, पृथ्वी, दिशाओं, अदिति, दक्ष और अन्य तत्वों की उत्पत्ति का वर्णन किया गया है। डॉ. अंबेडकर प्रश्न उठाते हैं कि यदि दोनों सूक्त एक ही ग्रंथ का मूल भाग हैं, तो सृष्टि की उत्पत्ति के दो भिन्न और परस्पर विरोधी वर्णन क्यों मिलते हैं? यदि विश्व की रचना पहले से ही एक प्रकार से वर्णित थी, तो पुरुषसूक्त में एक नई और अलग सृष्टि-कथा प्रस्तुत करने की आवश्यकता क्यों पड़ी? इसके साथ ही एक और महत्वपूर्ण प्रश्न भी सामने आता है—**पुरुषसूक्त के रचनाकारों ने सृष्टि की उत्पत्ति का आधार "पुरुष" को ही क्यों बनाया?**

ऋग्वेद मंडल 10, सूक्त 90 (पुरुष सूक्त) में कुल 16 ऋचाएँ (मंत्र) हैं। नीचे उसका मूल संस्कृत पाठ दिया है कृप्या इन मंत्रो पर ध्यान दें:

A **ऋग्वेद 10.90 (पुरुष सूक्त)**

मन्त्र 1

सहस्रशीर्षा पुरुषः सहस्राक्षः सहस्रपात्।
स भूमिं विश्वतो वृत्वा अत्यतिष्ठद्दशाङ्गुलम्॥

अर्थ:
पुरुष (सर्वव्यापी सत्ता) के हजारों सिर, हजारों आँखें और हजारों पैर हैं। वह संपूर्ण पृथ्वी को अपने भीतर समेटकर भी उससे परे विद्यमान रहता है।

मन्त्र 2

पुरुष एवेदं सर्वं यद्भूतं यच्च भव्यम्।
उतामृतत्वस्येशानो यदन्नेनातिरोहति॥

अर्थ:

यह सम्पूर्ण जगत वही पुरुष है—जो भूतकाल, वर्तमान और भविष्य सबका स्वामी है। वह अमरता का अधिपति है और अन्न के माध्यम से भी सबको जीवन देता है।

मन्त्र 3

एतावानस्य महिमाऽतो ज्यायाँश्च पुरुषः।
पादोऽस्य विश्वा भूतानि त्रिपादस्यामृतं दिवि॥

अर्थ:
उस पुरुष की महिमा अनंत है; वह स्वयं उससे भी महान है। उसका एक भाग यह समस्त संसार है, जबकि उसका शेष भाग अमर लोक (दिव्य स्थिति) में स्थित है।

मन्त्र 4

त्रिपादूर्ध्व उदैत्पुरुषः पादोऽस्येहाभवत्पुनः।
ततो विष्वङ्व्यक्रामत्साशनानशने अभि॥

अर्थ:
उस पुरुष का एक भाग ऊपर स्थित है और तीन भाग इस संसार में प्रकट हैं। वह सर्वत्र फैलकर भी सबको अपने भीतर समेटे हुए है।

मन्त्र 5

तस्माद्विराडजायत विराजो अधि पुरुषः।
स जातो अत्यरिच्यत पश्चाद्भूमिमथो पुरः॥

अर्थ:
उस पुरुष से विराट (समस्त सृष्टि शक्ति) उत्पन्न हुई और विराट से स्वयं पुरुष प्रकट हुआ। वह जन्म लेकर भी सर्वत्र फैल गया और फिर आगे भी विस्तृत होता गया।

मन्त्र 6

यत्पुरुषेण हविषा देवा यज्ञमतन्वत।
वसन्तोऽस्यासीदाज्यं ग्रीष्म इध्मः शरद्धविः॥

अर्थ:
देवताओं ने उस पुरुष को यज्ञ के रूप में प्रस्तुत किया। वसंत उसका घी बना, ग्रीष्म लकड़ी और शरद ऋतु हवि (आहुति सामग्री) बनी।

मन्त्र 7

तं यज्ञं बर्हिषि प्रौक्षन् पुरुषं जातमग्रतः।
तेन देवा अयजन्त साध्या ऋषयश्च ये॥

अर्थ:
देवताओं ने उस पुरुष को यज्ञ में समर्पित किया। देवताओं, ऋषियों और साध्यगण ने इसी के माध्यम से यज्ञ संपन्न किया।

मन्त्र 8

तस्माद्यज्ञात्सर्वहुतः सम्भृतं पृषदाज्यम्।
पशूंस्ताँश्चक्रे वायव्यानारण्यान् ग्राम्याश्च ये॥

अर्थ:
उस यज्ञ से पवित्र घी और पशु उत्पन्न हुए, तथा सभी प्रकार के प्राणी—पालतू और वन्य—उत्पन्न हुए।

मन्त्र 9

तस्माद्यज्ञात्सर्वहुत ऋचः सामानि जज्ञिरे।
छन्दांसि जज्ञिरे तस्माद्यजुस्तस्मादजायत॥

अर्थ:
उस यज्ञ से ऋचाएँ, सामवेद के मंत्र और यजुर्वेद की रचनाएँ उत्पन्न हुईं। छंद भी उसी से उत्पन्न हुए।

मन्त्र 10

तस्मादश्वा अजायन्त ये के चोभयादतः।
गावो ह जज्ञिरे तस्मात्तस्माज्जाता अजावयः॥

अर्थ:
उससे घोड़े, गायें और बकरी जैसे पशु उत्पन्न हुए। सभी प्रकार के पशु उसी से प्रकट हुए।

मन्त्र 11

यत्पुरुषं व्यदधुः कतिधा व्यकल्पयन्।
मुखं किमस्य कौ बाहू का ऊरू पादा उच्येते॥

अर्थ:
देवताओं ने पुरुष को विभिन्न भागों में विभाजित किया। प्रश्न उठाया गया कि उसके मुख, भुजाएँ, जंघाएँ और पैर क्या हैं?

मन्त्र 12 (चातुर्वर्ण्य का प्रसिद्ध मन्त्र)

ब्राह्मणोऽस्य मुखमासीद्बाहू राजन्यः कृतः।
ऊरू तदस्य यद्वैश्यः पद्भ्यां शूद्रो अजायत॥

अर्थ (प्रसिद्ध चातुर्वर्ण्य मंत्र):
उस पुरुष के मुख से ब्राह्मण, भुजाओं से क्षत्रिय, जंघाओं से वैश्य और पैरों से शूद्र उत्पन्न हुए।

मन्त्र 13

चन्द्रमा मनसो जातश्चक्षोः सूर्यो अजायत।
मुखादिन्द्रश्चाग्निश्च प्राणाद्वायुरजायत॥

अर्थ:
उस पुरुष के मन से चंद्रमा, नेत्रों से सूर्य, मुख से इंद्र और अग्नि तथा प्राण से वायु उत्पन्न हुए।

मन्त्र 14

नाभ्या आसीदन्तरिक्षं शीर्ष्णो द्यौः समवर्तत।
पद्भ्यां भूमिर्दिशः श्रोत्रात्तथा लोकानकल्पयन्॥

अर्थ:
उसके नाभि से अंतरिक्ष, सिर से स्वर्ग और पैरों से पृथ्वी उत्पन्न हुई। कानों से दिशाएँ उत्पन्न हुईं और इसी प्रकार सम्पूर्ण लोकों की रचना हुई।

मन्त्र 15

सप्तास्यासन् परिधयस्त्रिः सप्त समिधः कृताः।
देवा यद्यज्ञं तन्वाना अबध्नन् पुरुषं पशुम्॥

अर्थ:
यज्ञ के सात परिधि और इक्कीस प्रकार की समिधाएँ बनीं। देवताओं ने उस यज्ञ के माध्यम से पुरुष को प्रतीक रूप में स्थापित किया।

मन्त्र 16

यज्ञेन यज्ञमयजन्त देवास्तानि धर्माणि प्रथमान्यासन्।
ते ह नाकं महिमानः सचन्त यत्र पूर्वे साध्याः सन्ति देवाः॥

अर्थ:
देवताओं ने यज्ञ द्वारा यज्ञ का ही विस्तार किया। ये ही धर्म के प्रथम आधार बने। जो लोग इस महान यज्ञ में सहभागी हुए, वे उस परम लोक को प्राप्त हुए जहाँ प्राचीन साध्य और देवता निवास करते हैं।

उपरोक्त पुरुषसूक्त का सबसे उल्लेखनीय पक्ष यह है कि उसका मुख्य उद्देश्य केवल सृष्टि का वर्णन करना नहीं लगता। जैसे ही विश्व-रचना का वर्णन आरम्भ होता है (अथवा 10वें मंत्र के बाद), सूक्त का ध्यान अचानक समाज के चार वर्णों—ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र—की उत्पत्ति की ओर मुड़ जाता है। यह परिवर्तन अस्वाभाविक प्रतीत होता है। सामान्यतः किसी भी सृष्टि-वर्णन में पहले मनुष्य की उत्पत्ति का उल्लेख अपेक्षित होता है, लेकिन यहाँ विशेष रूप से सामाजिक वर्गों की उत्पत्ति पर बल दिया गया है।डॉ. अंबेडकर का तर्क है कि विश्व के अन्य प्राचीन धार्मिक ग्रंथों में सृष्टि का वर्णन तो मिलता है, पर समाज के वर्गों या श्रेणियों की उत्पत्ति को ईश्वरीय आदेश के रूप में स्थापित करने का

प्रयास नहीं किया गया। उदाहरण के लिए, बाइबिल में मानव की उत्पत्ति का वर्णन है, लेकिन वहाँ किसी सामाजिक वर्ग-व्यवस्था को दिव्य उत्पत्ति नहीं दी गई। इसी आधार पर वे प्रश्न उठाते हैं कि पुरुषसूक्त में वर्ण-व्यवस्था को सृष्टि-वर्णन का अनिवार्य भाग क्यों बनाया गया?

वे आगे कहते हैं कि ऋग्वेद के अन्य अनेक मंत्रों में सम्पूर्ण मानव समाज की उत्पत्ति का उल्लेख मिलता है, न कि अलग-अलग वर्णों की। कई स्थानों पर सम्पूर्ण मानव जाति को एक ही मूल से उत्पन्न माना गया है। यदि ऐसा है, तो केवल पुरुषसूक्त में ही चार वर्णों की पृथक उत्पत्ति का विचार क्यों प्रस्तुत किया गया?

डॉ. अंबेडकर एक और महत्वपूर्ण विरोधाभास की ओर ध्यान दिलाते हैं। ऋग्वेद के अनेक मंत्रों में मनु को सम्पूर्ण आर्य समाज का आदिपुरुष और जनक माना गया है। यही परम्परा बाद के ब्राह्मण ग्रंथों और पुराणों में भी मिलती है। लेकिन आश्चर्य की बात यह है कि पुरुषसूक्त में मनु का कोई उल्लेख नहीं मिलता। यदि मनु को समस्त मानव समाज का आदिपुरुष माना जाता था, तो सृष्टि-वर्णन करते समय उनका उल्लेख न होना स्वाभाविक नहीं लगता।

इसी प्रकार ऋग्वेद में अनेक स्थानों पर समाज को विभिन्न व्यवसायों और कर्मों में विभाजित दिखाया गया है, परन्तु कहीं भी जन्म-आधारित स्थायी वर्ण-व्यवस्था को ईश्वरीय व्यवस्था नहीं बताया गया। लोग अपनी योग्यता और आवश्यकता के अनुसार अलग-अलग कार्य करते दिखाई देते हैं। इसके विपरीत पुरुषसूक्त चार वर्णों को स्वयं सृष्टि का अंग बताकर उन्हें एक स्थायी और दैवी व्यवस्था के रूप में प्रस्तुत करता है।

डॉ. अंबेडकर पाँच आर्य जनों—यदु, तुर्वश, द्रुह्यु, अनु और पुरु—का भी उल्लेख करते हैं। ऋग्वेद में इन सभी जनों को एक साथ आर्य समाज का अंग माना गया है और अनेक मंत्रों में उनकी सामूहिक प्रशंसा की गई है।

उनके अनुसार यह दृष्टिकोण समाज की एकता को दर्शाता है। लेकिन पुरुषसूक्त में समाज को जन्म के आधार पर ऊँच-नीच वाले चार वर्णों में बाँट दिया गया है। उनके अनुसार यही सबसे बड़ा अंतर है।

इन सभी तथ्यों के आधार पर डॉ. अंबेडकर कुछ मूलभूत प्रश्न उठाते हैं—

- यदि ऋग्वेद समाज की एकता और समान मानव उत्पत्ति की बात करता है, तो पुरुषसूक्त में जन्म-आधारित वर्ण-व्यवस्था को क्यों स्थापित किया गया?
- यदि वर्ण-व्यवस्था पहले से समाज में थी भी, तो उसे ईश्वर-प्रदत्त और अपरिवर्तनीय सिद्ध करने की आवश्यकता क्यों पड़ी?
- क्या पुरुषसूक्त का वास्तविक उद्देश्य केवल सृष्टि का वर्णन था, या फिर चातुर्वर्ण्य व्यवस्था को धार्मिक वैधता प्रदान करना?

डॉ. अंबेडकर का निष्कर्ष है कि पुरुषसूक्त का सबसे महत्वपूर्ण उद्देश्य चातुर्वर्ण्य व्यवस्था को ईश्वरीय आधार प्रदान करना था। उनके अनुसार किसी सामाजिक व्यवस्था को यदि ईश्वर की इच्छा घोषित कर दिया जाए, तो उसके परिवर्तन की संभावना बहुत कम हो जाती है। इसी कारण वे मानते हैं कि पुरुषसूक्त ने वर्ण-व्यवस्था को केवल सामाजिक नियम नहीं रहने दिया, बल्कि उसे धार्मिक और शाश्वत व्यवस्था के रूप में स्थापित करने का प्रयास किया। उनके मत में यही पुरुषसूक्त की सबसे बड़ी पहेली और उसके निर्माण का मुख्य उद्देश्य प्रतीत होता है।

डॉ. आंबेडकर के अनुसार, यदि **पुरुषसूक्त** ऋग्वेद में बाद में जोड़ा गया, तो उसके पीछे कोई न कोई ऐतिहासिक और सामाजिक कारण अवश्य

रहा होगा। उनके मत में यह कारण केवल सृष्टि की उत्पत्ति का वर्णन करना नहीं था, बल्कि उस समय तक विकसित हो चुकी **चतुर्वर्ण व्यवस्था** को वैदिक और दैवी आधार प्रदान करना था।

डॉ. आंबेडकर का निष्कर्ष है कि शूद्र मूलतः एक क्षत्रिय समुदाय थे। प्रारंभिक वैदिक काल में वे किसी पृथक चौथे वर्ण के रूप में नहीं, बल्कि क्षत्रिय वर्ग के अंतर्गत आते थे। कालांतर में कुछ क्षत्रिय शासकों और ब्राह्मणों के बीच गंभीर संघर्ष उत्पन्न हुए। इन संघर्षों के परिणामस्वरूप ब्राह्मणों ने उन क्षत्रिय समूहों का **उपनयन संस्कार(वैदिक पाठ्यक्रम)** करना बंद कर दिया, जिससे वे वैदिक शिक्षा और धार्मिक अधिकारों से वंचित हो गए। धीरे-धीरे उनकी सामाजिक स्थिति गिरती गई और अंततः उन्हें समाज में चौथे वर्ण, अर्थात् शूद्र, के रूप में स्थापित कर दिया गया।

डॉ. आंबेडकर का तर्क है कि जब यह सामाजिक परिवर्तन पहले ही हो चुका था, तब उसे धार्मिक वैधता प्रदान करने के उद्देश्य से **पुरुषसूक्त** में चारों वर्णों की उत्पत्ति एक ही पुरुष के विभिन्न अंगों से बताई गई। उनके अनुसार, शूद्र को पुरुष के चरणों से उत्पन्न बताना उस समय तक स्थापित सामाजिक व्यवस्था को दैवी और वैदिक स्वीकृति प्रदान करने का एक प्रयास था। इसी आधार पर उन्होंने यह निष्कर्ष निकाला कि **पुरुषसूक्त ऋग्वेद का मूल भाग न होकर, अपेक्षाकृत बाद में जोड़ी गई रचना प्रतीत होती है।**

(इन सम्पूर्ण निष्कर्षों को आप उनकी पुस्तक 'शूद्र कौन थे' में विस्तार से पढ़ा सकते है।)

अंततः इस जातीय व्यवस्था के संपूर्ण इतिहास को प्रस्तुत करने का उद्देश्य यह है कि पाठकों के सामने इसके विकास की वास्तविक ऐतिहासिक प्रक्रिया को स्पष्ट रूप से रखा जा सके, जिसे अक्सर सरल या एकतरफा रूप में समझ लिया जाता है। इस अध्ययन के आधार पर यह कहा जा सकता है कि जाति व्यवस्था के स्वरूप और उसके विकास को लेकर विभिन्न ऐतिहासिक और विद्वतापूर्ण मत मौजूद हैं। एक दृष्टिकोण के अनुसार, वैदिक ग्रंथों, विशेषकर ऋग्वेद, में सामाजिक विभाजन के संकेत अवश्य मिलते हैं, जैसे कि पुरुषसूक्त (मंडल 10.90.12) का उल्लेख, परन्तु इसमें समाज के विभाजन को "गुण" और "कर्म" के आधार पर समझाया गया है। इस दृष्टिकोण के अनुसार, प्रारंभिक अवस्था में सामाजिक विभाजन का स्वरूप उतना कठोर, विकसित या जन्म-आधारित जाति व्यवस्था के रूप में स्पष्ट रूप से स्थापित नहीं था। वही दूसरी और हमने समझा के किस प्रकार वर्ण व्यवस्था को समाज के शुरुआती ग्रंथो सस्त्रो रचयता ने किस आधार अपने धार्मिक उपदेश के माध्यम से इस कर्म आधारित वर्णव्यवस्थ को 'जन्म' जातीय व्यवस्था में बदल दिया गया। समय के साथ यह सामाजिक संरचना धीरे-धीरे बदलती गई और इसमें विभिन्न ऐतिहासिक, आर्थिक और संस्थागत कारकों का प्रभाव जुड़ता गया। परिणामस्वरूप यह व्यवस्था अधिक जटिल और कठोर रूप लेती चली गई। जब जाति व्यवस्था के संपूर्ण ऐतिहासिक विकास को देखा जाता है, तो मन में कुछ महत्वपूर्ण प्रश्न स्वाभाविक रूप से उत्पन्न होते हैं। सबसे पहला प्रश्न यह है कि पूरे ऐतिहासिक क्रम में कहीं भी ऐसा स्पष्ट प्रमाण नहीं मिलता कि आज की जन्म-आधारित जाति व्यवस्था हिंदू धर्म के मूल ग्रंथों—विशेषकर ऋग्वेद अथवा अन्य वेदों—का मूल अंग रही हो। यदि वर्तमान जाति व्यवस्था स्वयं को चातुर्वर्ण्य व्यवस्था का ही स्वरूप मानती है, तो यह प्रश्न उठता है कि चातुर्वर्ण्य व्यवस्था, जिसका आधार व्यक्ति

के **गुण और कर्म** बताए गए हैं, वह जन्म-आधारित जाति व्यवस्था का आधार कैसे हो सकती है?

इतिहास का अध्ययन करने पर यह भी स्पष्ट होता है कि धर्मशास्त्रों के काल में वर्ण व्यवस्था की व्याख्या धीरे-धीरे इस प्रकार की गई कि वह जन्म-आधारित जाति व्यवस्था का रूप लेती चली गई। अनेक धर्मशास्त्रीय श्लोकों और व्याख्याओं में वर्ण व्यवस्था को आधार बनाकर सामाजिक वर्गों को जन्म से स्थायी रूप देने का प्रयास दिखाई देता है। किंतु यहाँ सबसे महत्वपूर्ण बात यह है कि जहाँ चातुर्वर्ण्य व्यवस्था का मूल सिद्धांत गुण और कर्म पर आधारित था, वहीं बाद की जाति व्यवस्था में व्यक्ति को जन्म के आधार पर एक निश्चित समूह में स्थायी रूप से बाँध दिया गया। अर्थात किसी व्यक्ति की सामाजिक पहचान उसके कर्म या योग्यता से नहीं, बल्कि उसके जन्म से निर्धारित कर दी गई। यह अपने आप में गंभीर चिंतन का विषय है।

यही कारण है कि मैं अपने पाठकों से भी आग्रह करता हूँ कि वे इस विषय पर स्वयं विचार करें कि आखिर चातुर्वर्ण्य व्यवस्था को जन्म-आधारित जाति व्यवस्था में परिवर्तित करने के पीछे क्या कारण रहे होंगे। ऐतिहासिक परिस्थितियों का अध्ययन करने पर एक दृष्टिकोण यह भी सामने आता है कि समाज के कुछ प्रभावशाली ब्राह्मण कुलों और उच्च वर्गों ने अपने सामाजिक विशेषाधिकारों तथा उच्च स्थिति को स्थायी बनाए रखने के उद्देश्य से वर्ण व्यवस्था की जन्म-आधारित व्याख्या को बढ़ावा दिया। परिणामस्वरूप यह सुनिश्चित करने का प्रयास हुआ कि ब्राह्मण का पुत्र ब्राह्मण ही बना रहे और निम्न समझे जाने वाले वर्गों के लोग निम्न, चाहे वे कितने भी योग्य क्यों न हों, पीढ़ी-दर-पीढ़ी उसी सामाजिक स्थिति में बने रहें। इसी प्रक्रिया के परिणामस्वरूप समाज अनेक छोटी-छोटी जातियों और उपजातियों में विभाजित होता चला गया। इससे लोगों के बीच ऊँच-नीच की भावना मजबूत हुई, सामाजिक गतिशीलता समाप्त होने लगी और विभिन्न समुदाय आपस में ही श्रेष्ठता के संघर्ष में उलझते रहे।

अतः मेरा प्रश्न उन लोगों से है जो आज भी अपनी जाति पर गर्व करते हैं और अपने नाम के साथ गर्वपूर्वक जातिसूचक शब्द जोड़ते हैं। उनका विश्वास है कि उनकी जाति श्रेष्ठ है और उसका आधार धर्म है। किन्तु यहाँ प्रत्येक भारतीय नागरिक के लिए यह समझना आवश्यक है कि उपलब्ध ऐतिहासिक साक्ष्यों तथा इस पुस्तक में प्रस्तुत अध्ययन के आधार पर जन्म-आधारित जाति व्यवस्था का स्पष्ट आधार वैदिक साहित्य में निर्विवाद रूप से स्थापित नहीं होता। साथ ही, किसी मनुष्य की श्रेष्ठता या हीनता केवल उसके जन्म से निर्धारित होती है, ऐसा भी प्रमाणित नहीं होता। यदि किसी प्रकार की सामाजिक व्यवस्था थी, तो उसके संबंध में अनेक विद्वानों का मत है कि उसका संबंध व्यक्ति के कर्म, गुण अथवा व्यवसाय से अधिक था, न कि केवल जन्म से। यदि ऐसा है, तो जन्म-आधारित जाति व्यवस्था का वास्तविक आधार क्या है?

क्या वह केवल उन धर्मशास्त्रों और ग्रंथों पर आधारित है जिनमें मनुष्यों को जन्म के आधार पर विभिन्न जातियों में विभाजित किया गया तथा ऊँच-नीच का भेद स्थापित किया गया? यदि यही उसका आधार है, तो क्या केवल जन्म के कारण किसी मनुष्य को ऊँचा या नीचा मानना न्यायसंगत है?

क्या आज भी जन्म के आधार पर किसी व्यक्ति को स्वयं से भिन्न या निम्न समझना प्रत्यक्ष सामाजिक विभाजन नहीं है? क्या उन विचारों पर गर्व करना उचित है जिन्होंने समाज में भेदभाव, असमानता और सामाजिक दूरी को बढ़ावा दिया?

अब मेरा सीधा प्रश्न है—**क्या आपकी जाति वास्तव में श्रेष्ठ है?** यदि आपका उत्तर अभी भी "हाँ" है, तो मैं आपसे आग्रह करूँगा कि इस पुस्तक में प्रस्तुत ऐतिहासिक अध्ययन और प्रमाणों पर पुनः विचार करें। यदि उसके बाद भी आपका उत्तर "हाँ" है, तो कृपया यह भी बताइए कि आपकी श्रेष्ठता का आधार क्या है?

यदि आप यह कहते हैं कि आपकी जाति इसलिए श्रेष्ठ है क्योंकि आपके पूर्वजों ने इस जाती के लिए, आपकी जाती के लिए महान कार्य किए थे जिसकी भावनाओ के कारन आप वह जन्म-आधारित पहचान लगाते है, तो उन महान कार्यों के प्रति आपकी भावनाओं का सम्मान करते हुए मेरा एक प्रश्न है—**उन कार्यों में आपका अपना योगदान क्या है?** यदि आप वास्तव में केवल अपने पूर्वजों के सम्मान और स्मृति को बनाए रखने के लिए जातिसूचक शब्द का प्रयोग करते हैं, तो फिर सामाजिक संबंधों—विशेषकर अंतर्जातीय विवाह—के समय सबसे पहले जाति ही क्यों सामने आती है? यदि जाति केवल पहचान है, तो विवाह के समय वही पहचान सामाजिक बाधा क्यों बन जाती है?

मेरा एक और प्रश्न है—आप किस आधार पर ऐसे शब्द को अपने नाम के साथ जोड़ते हैं, जिसका ऐतिहासिक उपयोग मनुष्यों को जन्म के आधार पर विभाजित करने के लिए किया गया?

आप आज भी उसी व्यवस्था से जुड़े पूर्वाग्रहों और संकीर्णताओं को क्यों बनाए रखना चाहते हैं? क्या आप वास्तव में जातिसूचक शब्द इसलिए लगाते हैं क्योंकि वह आपके पूर्वजों की उपलब्धियों का प्रतीक है, या इसलिए कि आप अनजाने में उन्हीं सामाजिक धारणाओं और पूर्वाग्रहों को आगे बढ़ा रहे हैं?

यह प्रश्न विशेष रूप से उन लोगों से है जो कहते हैं कि वे केवल अपने पूर्वजों की पहचान बनाए रखने के लिए जातिसूचक शब्द का प्रयोग करते हैं।

यदि ऐसा है, तो विवाह जैसे जीवन के सबसे महत्वपूर्ण निर्णयों में जाति निर्णायक क्यों बन जाती है?

और अब अंतिम प्रश्न।

यदि एक क्षण के लिए मान भी लिया जाए कि आपकी जाति व्यवस्था का आधार चतुर्वर्ण व्यवस्था ही है जैसा की इस व्यवस्था को धार्मिक स्वरुप दिया जाता है? ,तो कृपया बताइ-

“यदि आपकी जाति से किसी नीची जाति में जन्म व्यक्ति को आपकी जाति में स्वीकार किए जाने के लिए क्या करना पड़ेगा?यदि व्यक्ति आपके समान गुण, कर्म, शिक्षा, चरित्र और आचरण प्राप्त कर ले, तो क्या आप उसे अपनी जाति का सदस्य स्वीकार करेंगे?”

इस प्रश्न का ‘उत्तर’ वर्तमान भारत में मेरे पाठकों द्वारा संभवतः दो प्रकार से दिया जा सकता है—**"हाँ"** अथवा **"नहीं"**। इसलिए मैं दोनों उत्तरों का क्रमशः विश्लेषण करूँगा, ताकि किसी भी प्रकार की भ्रांति न रहे और पाठक स्वयं तथ्यों, इतिहास तथा तर्क के आधार पर निर्णय ले सकें। यदि आपका उत्तर "नहीं" है, तो इसका स्पष्ट अर्थ है कि आपकी जाति का आधार न कर्म है, न गुण, न योग्यता और न ही वह चतुर्वर्ण व्यवस्था जिसकी चर्चा वैदिक साहित्य में की जाती है; बल्कि उसका आधार केवल जन्म है। अब उन पाठकों की बात करते हैं जिनका उत्तर "हाँ" है। सबसे पहले मैं आपके इस उत्तर का सम्मान करता हूँ, क्योंकि यह आपकी स्वतंत्र सोच और अपने विचार खुलकर रखने की क्षमता को दर्शाता है। यह भी दर्शाता है कि आपकी सोच किसी पूर्वाग्रह से ग्रसित नहीं है और न ही आप जन्म-आधारित जाति व्यवस्था की संकीर्ण मानसिकता के शिकार हैं। किसी भी विषय पर तर्क, तथ्य और अपने विवेक के आधार पर विचार करना एक स्वस्थ सोच की पहचान है, और मैं ऐसी सोच का सदैव सम्मान करता हूँ। परन्तु क्या **यदि आप व्यक्तिगत रूप से उसे स्वीकार भी कर लें, तो क्या आपकी पूरी जाति या जातीय समुदाय भी उसे अपनी जाति का सदस्य स्वीकार करेगा?** यदि अब आपका उत्तर **"नहीं"** है, तो आपको यह स्वीकार करना होगा कि आपकी वर्तमान जाति व्यवस्था का आधार गुण, कर्म या योग्यता नहीं है। यदि आपकी 'जाती' व्यवस्था का आधार वास्तव में **गुण और कर्म** है तथाकथित विद्वानों और कुछ धर्मशास्त्रों की व्याख्याओं के प्रभाव से लंबे समय तक यह भ्रम बना रहा कि जन्म-आधारित जाति व्यवस्था का आधार चातुर्वर्ण्य व्यवस्था ही है परन्तु यह बात पूर्णतः रूप से असत्ये ही प्रतीत होता जब आधुनिक भारत में जन्मे वेदों के प्रखंड विद्वान 'महर्षि दयानन्द सरस्वती' स्वयं इस बात को अस्वीकार करते है।वह अपनी पुस्तक **सत्यार्थ प्रकाश** के **चतुर्थ समुल्लास** मेंभी वर्ण व्यवस्था को व्यक्त करते हुए कहते की किसी भी

व्यक्ति का समाज में स्थान उसके जन्म से नहीं, बल्कि उसके गुणों, योग्यता और कर्मों से निर्धारित होना चाहिए।अर्थात यदि किसी व्यक्ति में किसी विशेष वर्ण के अनुरूप गुण और कर्म हैं, तो उसे उसी वर्ण का अधिकारी माना जाना चाहिए, चाहे उसका जन्म किसी भी परिवार या समुदाय में हुआ हो।

इस आधार पर यदि प्रश्न पूछा जाए कि **क्या कोई भी व्यक्ति अपने गुण और कर्म के आधार पर किसी भी वर्ण का अधिकारी बन सकता है?**, चातुर्वर्ण्य व्यवस्था के सिद्धांत के अनुसार इसका उत्तर "हाँ"होना चाहिए, क्योंकि वहाँ जन्म नहीं, बल्कि गुण और कर्म को महत्व दिया गया है।

यदि कोई व्यवस्था जन्म को ही अंतिम आधार मान लेती है और व्यक्ति को उसके गुण, कर्म तथा योग्यता के बावजूद जीवनभर एक ही सामाजिक श्रेणी में बाँध देती है, तो वह गुण-कर्म आधारित चातुर्वर्ण्य व्यवस्था से भिन्न, जन्म-आधारित जाति व्यवस्था कहलाएगी। यदि ऐसा है, तो यह प्रश्न स्वाभाविक रूप से उठता है कि वर्तमान की जन्म-आधारित जाति व्यवस्था का संबंध, वैदिक चतुर्वर्ण व्यवस्था से प्रत्यक्ष रूप कैसे माना जा सकता है?

यदि वह वास्तव में ऋग्वेद में वर्णित चातुर्वर्ण्य व्यवस्था पर आधारित होती, तो किसी व्यक्ति के गुण, कर्म, शिक्षा और आचरण के आधार पर उसे स्वीकार किया जा सकता था।

परन्तु यदि जन्म के अतिरिक्त किसी अन्य आधार पर किसी व्यक्ति को आपकी जाति में स्थान नहीं मिल सकता, तो इसका अर्थ है कि वर्तमान जाति व्यवस्था का आधार केवल 'जन्म' है।

ऐसी व्यवस्था, जो एक ही धर्म के लोगों को जन्म के आधार पर अनेक स्थायी समूहों में बाँट रखी है हजारों वर्षों से, जहां लोगों के बीच विवाह, खानपान, मेल-जोल और सामाजिक संबंधों पर कठोर रोक रही हो, तथा उनके बीच ऊँच-नीच, सामाजिक दूरी और अलगाव को बनाए बनाये रखने वाली विचारधारा बनी रही हो, स्वाभाविक रूप से सामाजिक विभाजन को जन्म देती है।

तो जब दो जातियों के बीच इतनी ज़्यादा दूरी हो कि वे एक ही समाज का हिस्सा न लगे, बल्कि दो अलग-अलग धर्मों के लोगों की दुरी जितनी दिखाई दें, तब यह सवाल उठना स्वाभाविक है कि इसे केवल जाति ही क्यों कहा जाना सही है? यदि इसे एक तरह का अलग-अलग सामाजिक धर्म भी कहा जाए, तो यह भी कोई बड़ी अतिशयोक्ति नहीं होगी।

इसलिए यदि वास्तव में समाज को समानता, भाईचारे और न्याय की दिशा में आगे बढ़ाना है, तो केवल जाति व्यवस्था की आलोचना करना पर्याप्त नहीं होगा। सबसे पहले उन पूर्वाग्रहों, संकीर्णताओं और जन्म-आधारित श्रेष्ठता की धारणाओं से बाहर निकलना आवश्यक होगा, जो इस व्यवस्था को आज भी जीवित रखे हुए हैं।

अंततः यह विचार करना आवश्यक है कि यदि किसी व्यवस्था का परिणाम समाज को स्थायी रूप से जन्म के आधार पर विभाजित करना, मनुष्यों के बीच ऊँच-नीच की भावना उत्पन्न करना तथा भाईचारे और सामाजिक एकता को कमजोर करना है, तो ऐसी व्यवस्था का निष्पक्ष मूल्यांकन होना चाहिए। इसी संदर्भ में डॉ. भीमराव अम्बेडकर ने समाज को यह संदेश दिया था कि किसी भी व्यवस्था को केवल इसलिए स्वीकार कर लेना कि वह प्राचीन है, उचित नहीं है। प्रत्येक सामाजिक व्यवस्था का मूल्यांकन उसके गुण-दोष, न्याय और मानवहित के आधार पर होना चाहिए; तभी समाज का वास्तविक विकास संभव है।

अतः अब किसी भी निष्कर्ष पर पहुंचने से पहले हमें जानने की आवस्यकता है की,

(ग) आज के समाज में जाति व्यवस्था के अस्तित्व का वास्तविक कारण क्या है?

किसी भी नियम, कानून या व्यवस्था को मूल रूप से समाप्त करने और वास्तविक कारण जानने के लिए उसके मूल कारणों और जड़ों को समझना आवश्यक होता है। यह ठीक उसी प्रकार है, जैसे किसी विषैले वृक्ष को पूरी तरह समाप्त करने के लिए केवल उसकी शाखाओं को काटना पर्याप्त नहीं होता, बल्कि उसकी जड़ों को समाप्त करना आवश्यक होता है। तभी उस विषैले वृक्ष का पूर्णतः उन्मूलन किया जा सकता है। जाति व्यवस्था के इतिहास पर संपूर्ण दृष्टि डालने पर हमें इसके ऐतिहासिक रूप से टिके रहने के चार प्रमुख कारण दिखाई देते हैं। ऐतिहासिक दृष्टि से ये प्रमुख कारण हैं—जाति का जन्म-आधारित होना, विवाह का अपनी ही जाति तक सीमित होना, पेशों का जन्म के आधार पर तय कर दिया जाना तथा धार्मिक ग्रंथों द्वारा इस व्यवस्था को वैधता प्रदान किया जाना। परंतु यदि वर्तमान परिस्थितियों के आधार पर देखा जाए, तो जाति व्यवस्था के आज भी जड़ें जमाए रहने के केवल दो सबसे प्रमुख कारण दिखाई देते हैं। पहला, जाति का जन्म के आधार पर निर्धारित होना, अर्थात आज भी जाति जन्म-आधारित बनी हुई है। दूसरा, एक ही जाति में विवाह करने की रूढ़िवादी विचारधारा। यही दो सबसे प्रमुख कारण हैं, जो प्रत्यक्ष रूप से समाज में जाति व्यवस्था को बनाए रखने में सबसे महत्वपूर्ण भूमिका निभाते हैं।

परंतु यह सोचते ही मन में अनेक प्रश्न उठते हैं।

क्या इतनी लंबी अवधि से लोगों के मन में जड़ जमा चुकी जातिगत कट्टरता और पूर्वाग्रह को वास्तव में समाप्त किया जा सकता है?

क्या लोग कभी इस जन्म-आधारित जाति व्यवस्था का त्याग कर पाएँगे?

वर्तमान न्याय व्यवस्था और सरकारों के पास ऐसे कौन-से उपाय हैं, जिनसे इस व्यवस्था को जड़ से समाप्त किया जा सके? क्या वास्तव में ऐसा कोई उपाय है, जिससे इस देश के लोग जाति से ऊपर उठकर एक-दूसरे को समान मनुष्य के रूप में स्वीकार कर सकें?या फिर यह केवल एक आदर्श बनकर ही रह जाएगा तो पुनः प्रश्न उठता है—क्या इस जन्म-आधारित जाति व्यवस्था को समाप्त किया जा सकता है?

जो विचार लोगों के, अर्थात हिंदू धर्म के अनुयायियों के, मन में धर्मशास्त्रों और सामाजिक परंपराओं के माध्यम से हजारों वर्षों से स्थापित होते रहे हैं, जिनके कारण एक-दूसरे के प्रति हीनता, श्रेष्ठता तथा सामाजिक विभाजन की धारणाएँ विकसित हुईं, क्या उनमें परिवर्तन संभव है?

क्या जन्म-आधारित जातिगत विभाजन के साथ जीने की यह मानसिकता बदली जा सकती है? क्या वास्तव में इस समाज में परिवर्तन आ सकता है? क्या इस समस्या का समाधान संभव है?

यदि आपके मन में भी ये प्रश्न उठ रहे हैं, अथवा आप इनके उत्तर जानने के प्रति जिज्ञासु हैं, तो निश्चय ही आप जाति व्यवस्था से ऊपर उठकर सोचने का प्रयास कर रहे हैं। यही सोच भारत की आत्मा, अर्थात **बंधुत्व** की भावना को और अधिक सशक्त बना सकती है। आइए, हम सब मिलकर विचार करें कि वर्तमान परिस्थितियों में भारतीय समाज से जन्म-आधारित जातिगत कट्टरता के उन्मूलन का मार्ग किस प्रकार खोजा जा सकता हैऔर इस चिंता से जुड़ा एक प्रमुख सवाल :

संवाद–3 :
सबसे बड़ा प्रश्न — क्या इस विशाल जातीय जाल से निकलने के केवल दो ही रास्ते हैं?

यह प्रश्न जितना विशाल और गंभीर है, उसका उत्तर भी उतना ही स्पष्ट, तार्किक और निर्णायक है। अब तक प्रस्तुत समस्त विवेचन से यह तथ्य स्पष्ट रूप से सामने आता है कि वर्तमान जाति व्यवस्था के आज भी बने रहने के केवल दो मूल कारण हैं—

1. **जन्म के साथ ही जाति का निर्धारित हो जाना** अर्थात किसी व्यक्ति की जातीय पहचान, सामाजिक स्थिति और वर्गीकरण का केवल जन्म के आधार पर स्थायी रूप से निर्धारित कर दिया जाना तथा उसे जीवनभर उसी जातीय बंधन में बाँधे रखना।
2. **अपनी ही जाति के भीतर विवाह (ENDOGAMY) करना** अर्थात् केवल अपनी ही जाति या उपजाति के व्यक्ति से विवाह करना तथा अन्य किसी जाति में विवाह पर पूर्ण प्रतिबंध होना।

जब तक विवाह जातीय सीमाओं के भीतर ही होता रहेगा, तब तक जाति व्यवस्था भी पीढ़ी-दर-पीढ़ी स्वयं को पुनर्जीवित करती रहेगी। वास्तव में यही वे दो आधार हैं जिन पर वर्तमान जाति व्यवस्था आज भी मजबूती से खड़ी है। इन्हें इस व्यवस्था की सबसे गहरी और सबसे सुदृढ़ जड़ें कहा जा सकता है। ये जड़ें केवल सामाजिक ढाँचे तक सीमित नहीं हैं, बल्कि करोड़ों लोगों की सोच, संस्कार और मानसिकता में भी गहराई तक समा चुकी हैं। यदि वास्तव में जाति व्यवस्था का स्थायी अंत करना है, तो केवल उसके बाहरी स्वरूप पर नहीं, बल्कि उसकी इन्हीं मूल जड़ों पर निर्णायक प्रहार करना होगा। जब तक इसके मूल बंधनों को समाप्त नहीं किया जाएगा, तब तक जातिवाद किसी न किसी रूप में समाज में

पुनः जन्म लेता रहेगा। अब सबसे महत्वपूर्ण प्रश्न यह है कि जाति व्यवस्था के इन दोनों मूल कारणों का अंत कैसे किया जाए? **इसका सबसे सकारात्मक, लोकतांत्रिक और संवैधानिक उत्तर है—भारत का संविधान।** भारतीय संविधान प्रत्येक नागरिक को समानता, स्वतंत्रता, गरिमा तथा अपनी इच्छानुसार जीवन जीने का अधिकार प्रदान करता है। वह जन्म के आधार पर होने वाले किसी भी प्रकार के भेदभाव को स्वीकार नहीं करता तथा नागरिकों के बीच बंधुत्व, सामाजिक समरसता, राष्ट्रीय एकता और अखंडता को सुदृढ़ करना अपना मूल उद्देश्य मानता है। मेरा दृढ़ विश्वास है कि जिस संविधान ने अपने अनुच्छेद 17 के माध्यम से इसी समाज में सदियों से चली आ रही अमानवीय अस्पृश्यता जैसी कुप्रथा को कानून के बल पर समाप्त करने का ऐतिहासिक साहस दिखाया, वही संविधान अपनी मूल आत्मा—समानता, बंधुत्व, राष्ट्रीय एकता और अखंडता—की रक्षा के लिए जन्म-आधारित जाति व्यवस्था के मूल कारणों को भी समाप्त करने की क्षमता रखता है।

यह कोई भावनात्मक कल्पना या अतिशयोक्ति नहीं, बल्कि संविधान के सिद्धांतों, उसकी परिवर्तनकारी शक्ति और उसके लोकतांत्रिक चरित्र पर आधारित दृढ़ विश्वास है। अतः यदि जाति व्यवस्था का वास्तविक, स्थायी और न्यायपूर्ण समाधान प्राप्त करना है, तो मैं इस देश के उन सभी नागरिकों की ओर से, जो इस पुस्तक के माध्यम से इस समस्या की जड़ों को समझ चुके हैं, यह स्पष्ट रूप से कहना चाहता हूँ कि संविधान के अंतर्गत इन दोनों मूल कारणों को ध्यान में रखते हुए स्पष्ट, प्रभावी और कठोर विधिक प्रावधान बनाए जाना समय की आवश्यकता है। दूसरे शब्दों में, जन्म-आधारित जातीय पहचान और जाति-आधारित वैवाहिक बंधनों के प्रश्न पर गंभीर संवैधानिक संशोधन तथा प्रभावी विधायी पहल अब केवल एक विकल्प नहीं, बल्कि सामाजिक

समरसता, राष्ट्रीय एकता और संविधान की मूल भावना की रक्षा के लिए आवश्यक विचार का विषय बन चुकी है।

इसी उद्देश्य से आगे ऐसे संभावित संवैधानिक आधारों, सिद्धांतों और सुधारों का क्रमबद्ध विवेचन प्रस्तुत है -

1. किसी भी व्यक्ति की जाति उसके जन्म के आधार पर तय नहीं होनी चाहिए। हर व्यक्ति को यह स्वतंत्रता होनी चाहिए कि वह किसी जाति से अपनी पहचान जोड़ना चाहता है या नहीं। किसी व्यक्ति का जन्म, उसका परिवार या उसका वंश उसकी स्थायी सामाजिक पहचान तय नहीं कर सकता। एक ऐसे समाज में, जो समानता, स्वतंत्रता, सम्मान और भाईचारे पर आधारित हो, किसी व्यक्ति का स्थान और अवसर उसकी योग्यता और पसंद से तय होने चाहिए, न कि उसकी जाति से।

2. भारत के प्रत्येक वयस्क नागरिक को अंतर-जातीय विवाह करने का पूर्ण संवैधानिक अधिकार होना चाहिए और इस अधिकार की रक्षा की जानी चाहिए। अपना जीवनसाथी चुनना व्यक्ति की स्वतंत्रता, सम्मान और निजी जीवन का महत्वपूर्ण हिस्सा है। केवल जाति के आधार पर ऐसे विवाह का विरोध करना समानता, भाईचारे और समान नागरिकता की भावना के विरुद्ध है।

3. किसी भी व्यक्ति को अपने परिवार, वंश या पूर्वजों से मिले सरनेम (उपनाम) को रखने के लिए मजबूर नहीं किया जाना चाहिए। प्रत्येक व्यक्ति को अपनी इच्छा के अनुसार सरनेम रखने, बदलने या हटाने की स्वतंत्रता होनी चाहिए।

4. सरकारी या कानूनी दस्तावेज़ों में सरनेम बताना अनिवार्य नहीं होना चाहिए, सिवाय उन मामलों के जहाँ कानून द्वारा इसकी विशेष आवश्यकता हो। सरनेम किसी व्यक्ति की

जाति या सामाजिक पृष्ठभूमि का अनिवार्य चिन्ह न होकर उसकी व्यक्तिगत पसंद का विषय होना चाहिए।

5. **हिंदू परंपरा में जीवन के विभिन्न महत्वपूर्ण चरणों से जुड़े अनेक संस्कारों का वर्णन मिलता है, जिन्हें सामान्य रूप से षोडश संस्कार या सोलह संस्कार कहा जाता है। इन संस्कारों का उद्देश्य व्यक्ति के जीवन और उसके आध्यात्मिक विकास के महत्वपूर्ण पड़ावों को चिह्नित करना है। किसी भी व्यक्ति को केवल उसकी जाति के आधार पर भेदा-भाव कर, किसी संस्कार को करने, उसमें भाग लेने या उस संस्कार से जुड़ने के लिए रोका नहीं जाना चाहिए। सभी लोगों को धार्मिक और सामाजिक परंपराओं में समान सम्मान और समान अवसर प्राप्त होने चाहिए।**

6. **सरकार किसी भी ऐसी परंपरा, रीति-रिवाज या सामाजिक व्यवस्था को समर्थन नहीं देगी, जो जाति के आधार पर लोगों में ऊँच-नीच या भेदभाव को बनाए रखती हो या उसे बढ़ावा देती हो।**

इनके माध्यम से जाति व्यवस्था की इन मूल जड़ों पर प्रभावी प्रहार किया जा सकता है।

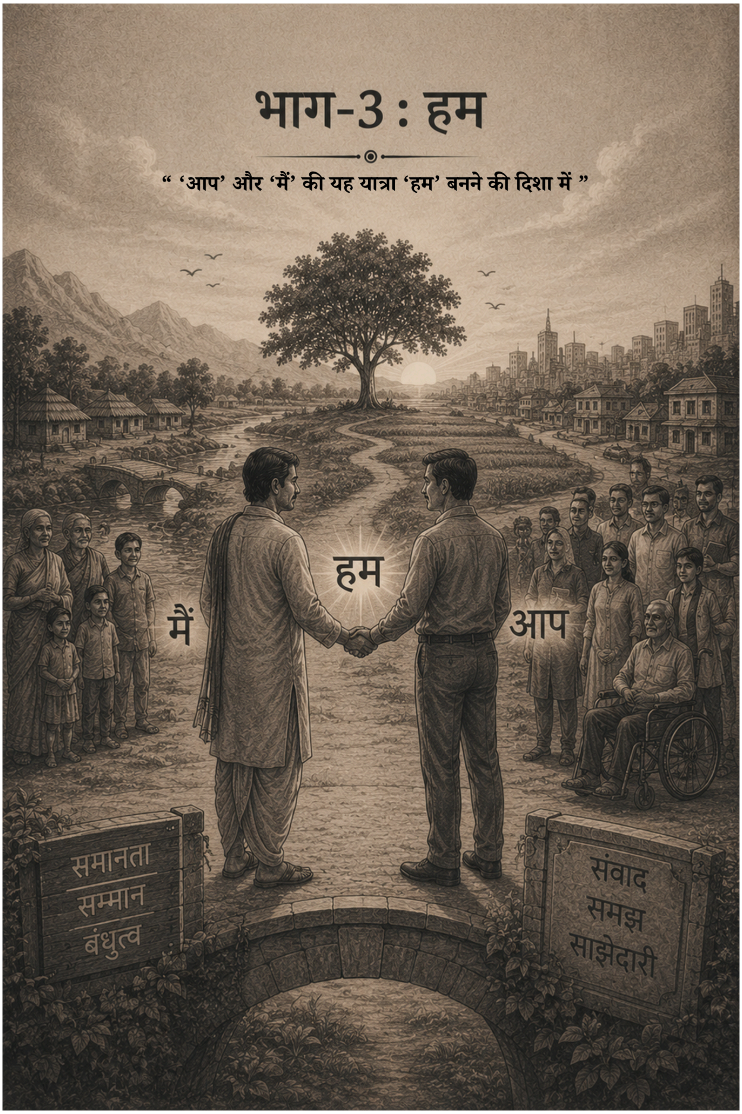
भाग-3 : हम
“ ‘आप’ और ‘मैं’ की यह यात्रा ‘हम’ बनने की दिशा में ”
हम
मैं
आप
समानता
सम्मान
बंधुत्व
संवाद
समझ
साझेदारी

इस भाग को लिखने का मेरा केवल एक ही उद्देश्य है— **'आप' और 'मैं' के बीच चल रहे इस संवाद को 'हम' तक पहुँचाना।** अब तक मैंने अपने विचार आपके सामने रखे हैं और मुझे विश्वास है कि आपने भी उन्हें खुले मन से समझने का प्रयास किया होगा। उसी प्रकार मैं भी आपके दृष्टिकोण, आपके अनुभवों और आपकी सोच को समझने का प्रयास कर रहा हूँ। क्योंकि किसी भी परिवर्तन की शुरुआत तब होती है, जब दो लोग एक-दूसरे को सुनते हैं, एक-दूसरे को समझते हैं और फिर साथ चलने का निर्णय लेते हैं। तो आइए, हम भी इसी भावना के साथ आगे बढ़ें। संभव है कि इस पुस्तक को पढ़ते समय आपके मन में अनेक प्रश्न उठे हों। यह भी संभव है कि उन प्रश्नों में से कुछ वही हों, जिन पर मैंने भी कभी विचार किया था। इसलिए इस भाग में मैं आपके मन में उठने वाले संभावित प्रश्नों को सामने रखने और उनका उत्तर देने का प्रयास करूँगा। यदि इस संवाद के अंत में हमारे विचार एक-दूसरे के और निकट आ जाएँ, तो समझिए कि **'आप' और 'मैं' की यह यात्रा 'हम' बनने की दिशा में एक सार्थक कदम रही।**

संवाद–1 : 'आप' और 'मैं' — आपके कुछ सवाल और आपसे कुछ जवाब

मान लीजिए कि कल सुबह से पूरे देश में जन्म-आधारित जाति व्यवस्था और जाति-सूचक पहचान पूरी तरह समाप्त हो जाए। तो क्या केवल क्या केवल जाति व्यवस्था समाप्त कर देने से देश में तुरंत एकता आ जाएगी? इतना हो जाने से अगले ही दिन इस देश में पूर्ण एकता स्थापित हो जाएगी? क्या सदियों से बनी सामाजिक धारणाएँ, पूर्वाग्रह और मानसिकताएँ एक ही दिन में बदल जाएँगी? क्या केवल जाति व्यवस्था समाप्त कर देने से देश में तुरंत एकता आ जाएगी? ऐसे ही अनेक स्वाभाविक सवाल इस समय आपके मन में उठ रहे होंगे। यदि वास्तव में ऐसा है, तो विश्वास मानिए, आपके भीतर एक बेहतर समाज और एक बेहतर राष्ट्र के निर्माण की सोच जन्म ले रही है। अब केवल आवश्यकता इस बात की है कि उन सवालों के उत्तर को खुले निष्पक्ष-मन से और विवेक के साथ समझने का प्रयास किया जाए।

इस प्रश्न का उत्तर देने से पहले मैं चाहता हूँ कि आप एक छोटी-सी स्थिति की कल्पना करें।

मान लीजिए आपका एक मित्र है जिसके साथ आप कई वर्षों से रह रहे हैं। समय के साथ वह नशे और अनेक बुरी आदतों का शिकार हो जाता है। उसके साथ लगातार रहने के कारण आप भी धीरे-धीरे उसकी कुछ आदतों और सोच से प्रभावित होने लगते हैं। एक समय ऐसा आता है जब आपको एहसास होता है कि यदि आपने उसका साथ नहीं छोड़ा, तो आपका भविष्य भी उसी दिशा में चला जाएगा। तब आप एक कठिन निर्णय लेते हैं। आप उससे दूरी बना लेते हैं और उसे अपने जीवन से हमेशा के लिए अलग कर देते हैं। अब मैं आपसे एक प्रश्न पूछता हूँ—क्या अगले ही दिन आपकी सारी बुरी आदतें समाप्त हो जाएँगी?

क्या आपका शरीर, आपका मन और आपकी सोच तुरंत पूरी तरह स्वस्थ हो जाएगी?

निस्संदेह, **नहीं।**

वर्षों से बनी हुई आदतें एक दिन में नहीं बदलतीं। उनके प्रभाव को समाप्त होने में समय लगता है। आपको स्वयं पर काम करना पड़ता है, नई आदतें विकसित करनी पड़ती हैं और धीरे-धीरे आपका शरीर, आपका मन और आपकी सोच स्वस्थ होने लगती है।

लेकिन एक बात निश्चित है—**जिस दिन आपने उस बुरी संगति से स्वयं को अलग किया, उसी दिन आपके सुधार की प्रक्रिया प्रारम्भ हो गई।** यदि वह कारण ही आपके जीवन में बना रहता, तो सुधार की संभावना भी बहुत कम होती।

ठीक यही बात जाति व्यवस्था पर भी लागू होती है।यदि जन्म-आधारित जाति व्यवस्था समाप्त कर दी जाए, तो इसका अर्थ यह नहीं होगा कि अगले ही दिन पूरे देश में पूर्ण एकता स्थापित हो जाएगी। सदियों से बनी हुई सामाजिक धारणाएँ, पूर्वाग्रह और मानसिकताएँ एक दिन में समाप्त नहीं होतीं। उन्हें बदलने में समय लगेगा। किन्तु जिस दिन समाज जन्म के आधार पर होने वाले विभाजन को स्वीकार करना छोड़ देगा, उसी दिन वास्तविक एकता की प्रक्रिया भी प्रारम्भ हो जाएगी। धीरे-धीरे लोगों की सोच बदलेगी, नई पीढ़ियाँ समानता के वातावरण में बड़ी होंगी, सामाजिक दूरियाँ कम होंगी और पारस्परिक विश्वास बढ़ेगा। समय के साथ यही परिवर्तन एक ऐसे समाज का निर्माण करेगा जहाँ मनुष्य की पहचान उसकी जाति नहीं, बल्कि उसका चरित्र, उसका कर्म और उसकी मानवता होगी। इसलिए इस प्रश्न का उत्तर है— नहीं, केवल जाति व्यवस्था समाप्त कर देने से देश में तुरंत एकता नहीं आ जाएगी परन्तु कभी भी एकता ना आने कारण यह जातिवाद अवश्ये हो सकता

है। अथवा जाति व्यवस्था का अंत उस एकता की दिशा में सबसे आवश्यक और सबसे महत्वपूर्ण कदम अवश्य होगा। जिस प्रकार बुरी संगति छोड़ना स्वस्थ जीवन की शुरुआत है, उसी प्रकार जाति व्यवस्था का अंत एक अधिक समान, न्यायपूर्ण और एकजुट समाज की शुरुआत हो सकता है।

आपके मन में यह प्रश्न भी आ सकता है—

"मैं तो किसी के साथ जाति के आधार पर भेदभाव नहीं करता। मैं सभी मनुष्यों को समान दृष्टि से देखता हूँ। फिर मैं अपनी जाति या जाति-सूचक उपनाम का त्याग क्यों करूँ? मैं इस लेखक की बात क्यों मानूँ?"

यह प्रश्न उचित भी है और स्वाभाविक भी। यदि आपके मन में ऐसा विचार आया है, तो इसका अर्थ है कि आप बिना सोचे-समझे किसी बात को स्वीकार नहीं करना चाहते। यही एक जागरूक व्यक्ति की पहचान है। अतः आपका स्वाभाविक और जायज है की "मैं तो किसी के साथ जाति के आधार पर भेदभाव नहीं करता। फिर अपनी जाति या जाति-सूचक उपनाम रखने में क्या समस्या है?" यदि वास्तव में ऐसा है, तो यह स्वागतयोग्य बात है। लेकिन यहाँ विचार करने योग्य एक प्रश्न है। जाति व्यवस्था केवल व्यवहार से ही नहीं, बल्कि उन सामाजिक प्रतीकों और पहचानों से भी बनी रहती है जिन्हें हम पीढ़ी-दर-पीढ़ी आगे बढ़ाते हैं। जब हम अपनी जाति या जाति-सूचक उपनाम को अपनी पहचान का आवश्यक भाग मानकर अगली पीढ़ी तक पहुँचाते हैं, तब हम अनजाने में उस व्यवस्था की निरंतरता भी बनाए रखते हैं, जिसकी जड़ ही जन्म-आधारित पहचान है। यह आवश्यक नहीं कि ऐसा करने वाला प्रत्येक व्यक्ति भेदभाव करता ही हो। बहुत से लोग किसी के साथ

अन्याय नहीं करते, फिर भी परंपरा, परिवार, सामाजिक पहचान या सांस्कृतिक कारणों से अपनी जाति-सूचक पहचान बनाए रखते हैं। इसलिए केवल जाति-सूचक उपनाम रखने से किसी व्यक्ति के इरादों का निर्णय नहीं किया जा सकता। लेकिन यदि हमारा लक्ष्य एक ऐसे समाज का निर्माण करना है जहाँ किसी मनुष्य की पहचान उसके जन्म से नहीं, बल्कि उसके व्यक्तित्व, कर्म और मानवता से हो, तो यह प्रश्न स्वाभाविक रूप से उठता है—क्या जन्म-आधारित जातीय पहचान को आगे भी बनाए रखना आवश्यक है?

इसके साथ ही मेरे मन में कुछ और प्रश्न उठे हैं, और मुझे विश्वास है कि यदि आपने अब तक इस पुस्तक को निष्पक्ष होकर पढ़ा है, तो यही प्रश्न आपके मन में भी अवश्य उठे होंगे। आइए, उनका भी सामना करते हैं। सबसे पहला प्रश्न—

क्या वास्तव में जन्म-आधारित जाति व्यवस्था को आज के भारत में बनाये रखना आवश्यक है अथवा नैतिक होगा ?

क्या ऐसी व्यवस्था, जिसने सदियों तक मनुष्यों को जन्म के आधार पर बाँटा, ऊँच-नीच का भ्रम पैदा किया, करोड़ों लोगों के सम्मान और अवसरों को सीमित किया, उसे केवल इसलिए जीवित रखा जाए क्योंकि वह परंपरा है?

क्या केवल इसलिए कि वह हमारे पूर्वजों से चली आ रही है, हम उसे अपनी आने वाली पीढ़ियों पर भी थोपते रहें?

जब किसी व्यक्ति का नाम या जाति-सूचक उपनाम सुनते ही उसके बारे में धारणाएँ बनने लगें, उसके सामाजिक स्थान का अनुमान लगाया जाने लगे, उसके साथ व्यवहार बदल जाए—तो क्या यह केवल एक "पहचान" है, या फिर विभाजन का जीवित प्रतीक?

क्या हम सचमुच ऐसी व्यवस्था को बचाना चाहते हैं, जिसकी उपस्थिति भर से मनुष्य का मूल्यांकन उसके जन्म के आधार पर होने लगे?

एक और प्रश्न अथवा वर्तमान स्तिथि की सबसे अहम् प्रश्न

आज भी जाति के नाम पर भेदभाव ,सामाजिक बहिष्कार और अनेक स्थानों पर हिंसा होती है। अंतरजातीय विवाह करने वाले लोगों को धमकियाँ दी जाती हैं, परिवार टूटते हैं और कहीं-कहीं लोगों की जान तक चली जाती है। अथवा जिस व्यवस्था के कारण आज भी अनेक परिवार अपने ही रक्त-संबंधों के विरुद्ध खड़े हो जाते हैं; जहाँ केवल जाति के नाम पर अपने ही बेटे-बेटी, भाई-बहन या परिजनों को घर से निकाल दिया जाता है, उनसे संबंध तोड़ दिए जाते हैं, उन्हें धमकियाँ दी जाती हैं, और कुछ मामलों में उनकी हत्या तक कर दी जाती है—क्या ऐसी व्यवस्था को केवल "पूर्वजों की स्मृति" या "सांस्कृतिक पहचान" का नाम देकर उचित ठहराया जा सकता है?

क्या ऐसे उदाहरणों को देखने के बाद भी यह कहना उचित होगा कि जाति-सूचक नाम केवल अपने पूर्वजों को याद रखने के लिए लगाया जाता है?

यदि ऐसा ही होता, तो फिर किसी व्यक्ति की जाति जानने के बाद उसके प्रति लोगों का व्यवहार क्यों बदल जाता है? उसके विवाह, उसके सामाजिक संबंधों और यहाँ तक कि उसके जीवन के अधिकार तक पर प्रश्न क्यों खड़े हो जाते हैं?

तो क्या समस्या केवल एक नाम की है?

या फिर वह नाम आज भी एक ऐसी सामाजिक व्यवस्था का प्रतीक है, जो अनेक स्थानों पर मनुष्यों को जोड़ने के बजाय अलग-अलग खाँचों में बाँट देती है? क्या ऐसी जाती व्यवस्था को बनाए रखना न्यायसंगत है?

क्या हम अपनी आने वाली पीढ़ियों को भी वही जाति-सूचक पहचान सौंपेंगे, जिसने पीढ़ियों तक लोगों के बीच दीवारें खड़ी कीं? या फिर हम उन्हें ऐसी पहचान देंगे, जहाँ मनुष्य की पहचान उसका जन्म नहीं, बल्कि उसका चरित्र, उसका कर्म और उसकी मानवता होगी? यदि कोई व्यवस्था समाज को जोड़ने के बजाय बार-बार बाँटती हो, यदि वह समानता के बजाय ऊँच-नीच की मानसिकता को जीवित रखती हो, यदि वह मनुष्य को मनुष्य से दूर करती हो—तो क्या ऐसी व्यवस्था को केवल परंपरा के नाम पर जीवित रहने दिया जाना चाहिए? बी. आर. अम्बेडकरने अपने प्रसिद्ध शोध-पत्र **"भारत में जातियाँ: उनका तंत्र, उत्पत्ति और विकास"** में जाति व्यवस्था को ऐसे सामाजिक ढाँचे के रूप में देखा, जो समाज को अलग-अलग बंद समूहों में बाँट देता है। उनका तर्क था कि जब तक यह ढाँचा बना रहेगा, सामाजिक विभाजन भी किसी-न-किसी रूप में बना रहेगा।

आपके मन में एक और तर्कपूर्ण प्रश्न उठ सकता है—

"यदि मैं स्वयं जातिवाद नहीं करता, तो क्या केवल अपनी जाति बनाए रखने से भी मैं इस व्यवस्था का किसी प्रकार समर्थन कर रहा हूँ?"

इस प्रश्न का उत्तर मैं सीधे नहीं दूँगा। पहले मैं आपसे एक प्रश्न पूछना चाहता हूँ।

यदि कोई व्यक्ति किसी गलत व्यवस्था को चलाने वालों के साथ मिलकर उसे बनाए रखने में अपना योगदान देता है, भले ही वह स्वयं उस व्यवस्था का सबसे सक्रिय हिस्सा न हो, तो क्या वह उस व्यवस्था की निरंतरता के लिए किसी-न-किसी रूप में उत्तरदायी नहीं माना जाएगा?

यदि आपका उत्तर **"हाँ"** है, तो अब यही प्रश्न स्वयं से पूछिए—

‘यदि मैं स्वयं जातिगत भेदभाव नहीं करता, लेकिन जाति-सूचक पहचान को पीढ़ी-दर-पीढ़ी आगे बढ़ाता हूँ, उसे अपनी पहचान का आवश्यक भाग मानता हूँ और उसी व्यवस्था को जीवित रखने वाली परंपराओं को बिना प्रश्न किए स्वीकार करता हूँ, तो क्या मैं अनजाने में उस व्यवस्था की निरंतरता में अपना योगदान नहीं दे रहा?’

इस प्रश्न का उत्तर मैं नहीं दूँगा। **इसका उत्तर आपको स्वयं, अपने विवेक और अपने अंतःकरण से देना होगा।**

यदि आपका उत्तर ईमानदारी से **"हाँ"** है, तो फिर अगला प्रश्न भी आपके सामने खड़ा है—

क्या अब भी केवल यह कह देना पर्याप्त है कि "मैं जातिवाद नहीं करता"? या फिर जातिवाद का वास्तविक विरोध केवल व्यवहार से नहीं, बल्कि उस व्यवस्था के उन प्रतीकों और परंपराओं पर भी पुनर्विचार करने वे उनके त्याग से होगा, जो उसे पीढ़ी-दर-पीढ़ी जीवित रखे हुए हैं?

अब निर्णय आपका है।

क्या हम इतिहास की उस व्यवस्था को ढोते रहें, जिसने हमें बाँटा? या फिर साहस करके उसे इतिहास का हिस्सा बना दें और आपके इस वर्तमान को, आपके बच्चो को, अथवा आपके आने वाली पीढ़ियों को इस 'जाती' व्यवस्था को त्याग कर प्रभावित जीवन की शुरुआत करना चाहिए या नहीं ? यह सवाल और उसका जवाब देने का अधिकार मेरा नहीं, सिर्फ और सिर्फ आपका होना चाहिए। अंतिम निर्णय आपको ही लेना है—क्या आप अपनी आने वाली पीढ़ियों को वही जातीय पहचान सौंपना चाहते हैं, जो सदियों से समाज को विभाजित करती आई है?

आपके वर्तमान में आपका भविष्य है, और आपके भविष्य में एक-न-एक दिन आपका वर्तमान होगा। अब प्रश्न यह है कि क्या आप इस वर्तमान को और उस भविष्य को जाति की संकीर्ण एवं पूर्वाग्रहपूर्ण मानसिकता से मुक्त करके, देश की एकता और बंधुत्व की भावना के साथ जीना चाहते हैं? क्या आप अपने बच्चों को और अपनी आने वाली पीढ़ियों को यही भावना, यही संस्कार और यही उपदेश देना चाहते हैं? या फिर आप उन्हें भी यह जाति-सूचक शब्द देकर, इस पूर्वाग्रह और संकीर्णता से भरी जाति व्यवस्था को आगे बढ़ाने और बनाए रखने में अनजाने ही अपना सहयोग देना चाहते हैं? **भविष्य को समानता, सम्मान और मानवता के आधार पर गढ़ना उचित है या 'जाति' सूचक सब्द को बनाये रखते हुए इसकी पर्वग्राहिस्त और सकिन्र्तात्माक्ता के साथ जीवन बिताना?** इन प्रश्नों का उत्तर देने का अधिकार मेरा नहीं है। यह अधिकार केवल और केवल आपके विवेक का है। मेरा उद्देश्य केवल इतना है कि मैं आपके सामने तर्क रख सकूँ, आपको सोचने पर मजबूर कर सकूँ और आपके वर्तमान तथा आपके भविष्य को इस जाती व्यवस्था के विचार से बहार निकालकर एक बेहतर दिशा देने का एक छोटा-सा प्रयास कर सकूँ तथा मन मैं अब मेरे एक स्वाभाविक सवाल आया,

संवाद–2 : क्या ‘आप’ और ‘मैं’, ‘हम’ बन पाए हैं?

यह केवल एक संवाद नहीं, बल्कि एक सवाल भी है। ऐसा सवाल, जिसका उत्तर केवल मुझे ही नहीं, बल्कि आपको भी देना है। यदि इस संवाद के अंत में आपका और मेरा उत्तर एक ही हुआ, यदि हमारी सोच एक ही निष्कर्ष पर पहुँची, तो वही उत्तर हमारे विचारों को एक कर देगा। वही उत्तर यह प्रमाणित कर देगा कि अब हमारे विचार अलग-अलग नहीं रहे, बल्कि **हमारे विचार** बन चुके हैं। और जिस क्षण हमारे विचार एक हो जाएँगे, उसी क्षण 'आप' और 'मैं' सचमुच 'हम' बन जाएँगे।

आपके मन में यह छोटा-सा सवाल, उपरोक्त वाक्य पढ़ते समय, अवश्य आया होगा। भला, इसका निर्णय कैसे होगा? किसी एक व्यक्ति के विचार किसी दूसरे व्यक्ति के विचारों से सटीक रूप से कैसे मिल सकते हैं? और इसका निर्णय किस प्रकार होगा? यदि आपके मन में ये सवाल उठे हैं, तो यह स्वाभाविक है। आपके मन में उठे इन सभी सवालों का जवाब भी संभव है। इन्हीं सवालों के जवाब यह तय करेंगे कि ‘आप’ और ‘मैं’, 'हम' बन पाए हैं या नहीं। इसका निर्णय मेरे नीचे दिए गए कुछ सवाल करेंगे। ये वही सवाल हैं, जो मैं अक्सर अपने मन के उस रूप से पूछता रहता हूँ, जो तर्क नहीं कर पाता, या तर्क करने, सवाल पूछने और कारण जानने से डरता है। यही सवाल मेरे बदलाव का कारण बने। मुझे विश्वास है कि यही सवाल हमारी एकता का भी कारण बनेंगे। और यही सवाल **'हम'** के विचारों का सबसे सशक्त आधार बनेंगे।

लोगों का लम्बे समय से जाती व्यवस्था में विश्वास इसीलिए बना रहा है है क्युकी उनका मन्ना है की यह धर्म के आधार पर बना विभाजन है और यह आवश्यक की इससे धर्म के सभी लोग माने।

अब हमारे आने वाले सवालों को समझने के लिए यह जानना अतिआवश्यक है की वास्तव में

धर्म का अर्थ क्या है?

महात्मा गौतम बुद्ध के अनुसार धर्म का अर्थ लोगों के दुःखों को दूर करके उन्हें सुख और खुशियों का एहसास कराना है। अर्थात समाज में धर्म का कार्य यही होना चाहिए। यदि धर्म का उद्देश्य मनुष्य के दुःखों को दूर करना और समाज में सुख, सम्मान तथा सद्भाव स्थापित करना है, तो अब मेरे कुछ सवाल हैं—

पहला सवाल: क्या वास्तव में धर्म की इस जन्म-आधारित जाति-व्यवस्था ने लोगों को खुशियाँ दी हैं? या इसका लाभ केवल कुछ विशेष पुरोहितों और कुल-पुरोहितों को ही मिला, जिन्होंने अपने सामाजिक विशेषाधिकारों को बनाए रखने के लिए इस व्यवस्था का समर्थन किया और स्वयं को दूसरों से श्रेष्ठ माना?

दूसरा सवाल: क्या वास्तव में धर्म की ऐसी सामाजिक व्यवस्था, जिसने हजारों वर्षों से लोगों को अनगिनत जातियों में विभाजित रखा है, लोगों के लिए वास्तविक सुख और खुशियों का कारण बन सकी है? अथवा क्या वह कभी ऐसा कर पाई थी?

तीसरा सवाल: जिस जाती-व्यववस्था में लोगों को यह सिखाया जाता रहा हो कि एक मनुष्य, दूसरे मनुष्य के मात्र स्पर्श से स्वयं को अपवित्र समझे, क्या धर्म की वह व्यवस्था वास्तव में लोगों की खुशियों का कारण हो सकता है?

चौथा सवाल: धर्म की वह व्यवस्था जिसमें जन्म लेते ही शिशु बच्चे को अछूत कह दिया जाए, क्या ऐसी व्यवस्था में जन्म लेने वाला वह बच्चा वास्तव में स्वयं को खुश रख सकता है?

पाँचवाँ सवाल: क्या वह व्यक्ति धर्म की उस जाती-व्यवस्था में वास्तव में कभी खुश रह सकता है, जिसके भीतर व्याप्त कट्टर जातीय भेदभाव के कारण उसने दुर्भाग्यवश अपना प्रेम खो दिया हो, अथवा इसी समाज ने जातीय भिन्नता के कारण उसके प्रेम की हत्या कर दी हो? जबकि आज भी ऐसी घटनाएँ समाज में निरंतर देखने को मिलती हैं।

छठा सवाल: क्या धर्म की ऐसी व्यवस्था, जिसने अपने अनुयायियों को कभी समानता, सम्मान और एकता की दृष्टि से नहीं देखा, उसके लोग वास्तव में कभी संतोष और खुशियाँ प्राप्त कर सके होंगे?

सातवाँ सवाल: क्या धर्म की वह सामाजिक व्यवस्था, जिसने लोगों की पहचान जन्म के आधार पर ही निर्धारित कर दी हो, अपने अनुयायियों को कभी वास्तविक एकता की दृष्टि से देख सकती है?

– यदि धर्म की ऐसी जाति-व्यवस्था जो जातियों के बीच समानता, सम्मान और एकता स्थापित ही नहीं कर सकती, तो क्या वह वर्तमान संवैधानिक भारत के नागरिकों के लिए कभी पूर्ण संतोष और खुशियों का कारण बन सकती है?

– यदि नहीं, तो क्या वर्तमान संवैधानिक भारत में जन्म-आधारित पहचान, जातीय कट्टरता और भेदभाव को बनाए रखना उचित माना जाना चाहिए?

उत्तर आपको देना है।

इस पुस्तक का उत्तर इन सभी सवालों के लिए एक ही है— "नहीं।"

हमें ऐसे किसी भी धर्म की, ऐसी जाति-व्यवस्था नहीं चाहिए, जिसमें लोगों को हजारों वर्षों तक सामाजिक बंधनों और भेदभाव में जकड़कर रखा जाए।

इन सभी सवालों के उत्तर आपको भी केवल **"हाँ"** अथवा **"नहीं"** में देने होंगे,

यदि आपका उत्तर इस पुस्तक के उत्तर के समान है, तो इसका अर्थ है कि अब **"आप" और "मैं", "हम" बन चुके हैं, और आशा है कि सदैव "हम" ही रहेंगे।** यदि आपका उत्तर इस पुस्तक में दिए गए उत्तर के समान नहीं है, तो इसका अर्थ यह नहीं कि आप गलत हैं, बल्कि यह हो सकता है कि इस विषय पर अभी और चिंतन तथा गहराई से समझने की आवश्यकता है। फिर भी, मेरी इच्छा है कि कोई भी व्यक्ति इन प्रश्नों पर स्वयं विचार अवश्य करे। यदि आपके मन में इस विषय से संबंधित कोई भी प्रश्न या शंका हो, मैं उसका उत्तर देने तथा उसे स्पष्ट करने का पूरा प्रयास अपने आने वाले संस्करणों में करूँगा। परंतु इन प्रश्नों का उत्तर **"हाँ"** या **"नहीं"** में आपको स्वयं अपने विवेक, समझ और चिंतन के आधार पर देना है।

इस सवाल का जवाब उन सवालो दुबारा चिंतन करने पर दीजिये, और मेरा विश्वास है कि यदि इस देश का प्रत्येक व्यक्ति भारतीय संविधान की आत्मा को समझ पाया है, तो वह समानता, सम्मान और बंधुत्व के उन मूल्यों को भी अवश्य स्वीकार करेगा, जिनकी ओर लाखों लोगों की सोच आज अग्रसर हो चुकी है। ऐसे प्रत्येक नागरिक का उत्तर **इस पुस्तक के उत्तर के समान ही होगा।** अतः अब हम यह कह सकते हैं कि **'आप' और 'मैं' — 'हम' हो चुके हैं।**

संवाद–3 : 'हम' — समानता, सम्मान और बन्धुत्वता की ओर..

समानता ?,

एक कल्पना कीजिए।

आपके घर एक नए शिशु का जन्म हुआ है। घर में खुशियों का माहौल है। लेकिन जन्म के दो दिन बाद ही आपकी पत्नी की तबीयत अचानक बिगड़ने लगती है। उसे तेज़ बुखार है, साँस लेने में कठिनाई हो रही है और उसकी हालत हर पल गंभीर होती जा रही है। घबराकर आप गाँव के डॉक्टर के पास जाते हैं। हाथ जोड़कर उससे अपनी पत्नी का इलाज करने की विनती करते हैं। जैसे ही उसे पता चलता है कि आप एक तथाकथित 'नीची' या 'अछूत' जाति से हैं वह साफ़ कह देता है—"मैं तुम्हारे घर नहीं जाऊँगा।"

लाचार होकर आप गाँव के कुछ लोगों से सहायता माँगते हैं। बहुत अनुरोध के बाद डॉक्टर आने के लिए तैयार होता है, लेकिन एक शर्त पर—वह आपके घर में प्रवेश नहीं करेगा और आपकी पत्नी को स्पर्श भी नहीं करेगा। आप अपनी बीमार पत्नी को नवजात शिशु के साथ घर से बाहर ले आते हैं। डॉक्टर दूर खड़े-खड़े उसकी जाँच करता है, कुछ दवाइयाँ लिखता है और चला जाता है। रातभर आपकी पत्नी दर्द से तड़पती रहती है। आप बार-बार डॉक्टर से आने की प्रार्थना करते हैं, लेकिन वह दोबारा आने से इनकार कर देता है। रात भर असहनीय दर्द होने कारण अगले दिन आपकी पत्नी की मृत्यु हो जाती है।

अब स्वयं से केवल एक प्रश्न पूछिए—

यदि समाज में जातिवाद नहीं होती तो क्या आपकी पत्नी आज जीवित नहीं होती?

यह जाति-आधारित भेदभाव वाली सामाजिक व्यवस्था के अनुसार इसी को "जातीय **समानता"** कहा जाता रहा है। यह तो आपके लिए एक कल्पना मात्र हो सकती है, परंतु आपको यह जानकर हैरानी होगी कि यह एक वास्तविक ऐतिहासिक घटना है, जो 1929 में हिंदू समाज के एक व्यक्ति के साथ घटित हुई थी। इस घटना का उल्लेख 12 दिसंबर 1929 को महात्मा गांधी द्वारा संपादित पत्रिका 'यंग इंडिया' में प्रकाशित हुआ था। इसका उल्लेख डॉ. भीमराव अंबेडकर ने भी अपनी आत्मकथात्मक रचना 'वेटिंग फॉर अ वीसा' में किया है, जहाँ उन्होंने उस समय के जातीय भेदभाव और उसके अमानवीय परिणामों का वर्णन किया है।

सम्मान? ,

ज़रा एक क्षण के लिए उस ऐतिहासिक परिस्थिति की कल्पना कीजिए, जब दक्षिण भारत के कुछ क्षेत्रों में महिलाओं को अपने शरीर का ऊपरी भाग ढकने के अधिकार के लिए संघर्ष करना पड़ा। सोचिए, किसी स्त्री के लिए यह कितना अपमानजनक और पीड़ादायक रहा होगा कि उसे केवल अपनी जाति के कारण सम्मानपूर्वक वस्त्र पहनने का अधिकार भी प्राप्त न हो। यह धर्म की इसी जाती-व्यवस्था में एक जाती के लिए किसी दूसरी जाती के प्रति **सम्मान** रहा है। यह दुर्भाग्यपूर्ण घटनाएं 18वीं–19वीं शताब्दी में त्रावणकोर (वर्तमान केरल के बड़े भाग) में जाति-आधारित पहनावे के नियम में प्रचलित थे। कुछ निम्न मानी जाने वाली जातियों, विशेषकर तत्कालीन चन्नार (वर्तमान नादर) समुदाय की महिलाओं को ऊँची जातियों की महिलाओं की भाँति ऊपरी वस्त्र पहनने की अनुमति नहीं थी। जब उन्होंने इस भेदभाव का विरोध किया, तो उन्हें सामाजिक प्रताड़ना और हिंसा का भी सामना करना पड़ा। इतिहास में यह संघर्ष चन्नार विद्रोह (Upper Cloth Revolt) के नाम से जाना जाता है। लंबे संघर्षों के बाद 1859 में त्रावणकोर राज्य ने नादर महिलाओं को ऊपरी वस्त्र पहनने की अनुमति दी, यद्यपि प्रारम्भिक आदेशों में कुछ सामाजिक सीमाएँ भी बनी रहीं। यह घटना हमारे इतिहास का एक महत्वपूर्ण अध्याय है। यह हमें यह सोचने के लिए विवश करती है कि यदि किसी सामाजिक व्यवस्था में कुछ लोगों को केवल जन्म के आधार पर सम्मानजनक जीवन, समान अधिकार या अपनी गरिमा के साथ जीने का अवसर भी न मिले, तो क्या ऐसी व्यवस्था को आदर्श कहा जा सकता है? क्या ऐसे भेदभावपूर्ण इतिहास की स्मृतियों को आज भी जाति-सूचक शब्दों में समेटे रखना उचित है? क्या उन भयावह और अपमानजनक अनुभवों की विरासत आने वाली पीढ़ियों को भी जन्म के साथ "जाति" के रूप में सौंपते रहना चाहिए?

यदि किसी व्यवस्था की स्मृतियाँ असमानता, अपमान और भेदभाव से जुड़ी हों, तो क्या उनका बोझ भी अगली पीढ़ियों को विरासत में मिलना चाहिए? या फिर हमें ऐसा समाज बनाने का प्रयास करना चाहिए जहाँ मनुष्य की पहचान उसके जन्म से नहीं, बल्कि उसके व्यक्तित्व, कर्म और मानवीय गरिमा से हो?

यह प्रश्न किसी व्यक्ति या समुदाय के विरुद्ध नहीं, बल्कि उस प्रकार के सामाजिक भेदभाव के विरुद्ध है जिसमें मनुष्य की गरिमा जन्म के आधार पर सीमित कर दी जाती है। इतिहास से सीख लेकर हमें यह विचार करना चाहिए कि क्या किसी भी समाज में जन्म-आधारित असमानता और भेदभाव को स्थान मिलना चाहिए, या समानता, सम्मान और मानवीय गरिमा को अधिक महत्व दिया जाना चाहिए।

बन्धुत्वता?,

कल्पना कीजिए कि आप तमिलनाडु के किलवेनमणि गाँव में रहने वाले एक भूमिहीन खेतिहर मज़दूर हैं। दिनभर खेतों में कठिन परिश्रम करने के बाद शाम को अपने परिवार के साथ घर लौटते हैं। थके हुए हैं, इसलिए जल्दी सो जाते हैं। लेकिन आधी रात को अचानक शोर सुनाई देता है। देखते ही देखते आपकी पूरी बस्ती को चारों ओर से घेर लिया जाता है। आग लगा दी जाती है। बाहर निकलने का कोई रास्ता नहीं बचता। कुछ ही क्षणों में आप, आपका परिवार, आपके बच्चे—सब आग की लपटों में घिर जाते हैं।

ज़रा सोचिए, यह कितना भयावह दृश्य होगा। दुर्भाग्य से यह केवल कल्पना नहीं, बल्कि यह भी एक इतिहास वास्तविक घटना है। 25 दिसंबर 1968 की रात तमिलनाडु के किलवेनमणि गाँव में भूमिहीन खेतिहर मज़दूरों की बस्ती पर हमला किया गया। उस समय मजदूर बेहतर मजदूरी और काम की शर्तों की माँग कर रहे थे। अधिकांश मजदूर दलित समुदाय से थे, जबकि अनेक बड़े भू-स्वामी प्रभावशाली ऊँची जातियों से थे। आर्थिक संघर्ष और सामाजिक-जातिगत तनाव ने मिलकर हिंसा का रूप ले लिया। हमलावरों ने मजदूरों की बस्ती में आग लगा दी। **इस भीषण अग्निकांड में 44 लोगों की जलकर मृत्यु हो गई, जिनमें बड़ी संख्या महिलाओं और मासूम बच्चों की थी।**

अब स्वयं से एक प्रश्न पूछिए— क्या ऐसी परिस्थितियों में हम जातिगत **बंधुत्व** अथवा भाईचारे की बात कर सकते हैं? जहाँ जन्म के आधार पर लोगों के साथ भेदभाव किया जाए, जहाँ सम्मानपूर्वक जीवन जीने के अधिकार के लिए संघर्ष करना पड़े, जहाँ अपने श्रम का उचित प्रतिफल माँगने पर पूरी बस्ती को आग के हवाले कर दिया जाए, जहाँ महिलाओं और मासूम बच्चों तक को नहीं बख्शा जाए—क्या वहाँ भाईचारे की भावना दिखाई देती है यदि किसी सामाजिक व्यवस्था में कुछ लोगों के साथ केवल उनकी जाति के कारण ऐसा व्यवहार किया जाए, तो यह प्रश्न स्वाभाविक है कि उस समय उस व्यवस्था में समानता, पारस्परिक सम्मान और भाईचारे की भावना कितनी सशक्त थी। ज़रा स्वयं से पूछिए—उन बच्चों का क्या दोष था? उन महिलाओं का क्या अपराध था? क्या वे केवल सम्मानजनक जीवन और अपने श्रम का उचित प्रतिफल नहीं चाहते थे? किलवेनमणि की यह त्रासदी हमें याद दिलाती है कि स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद भी भारत के कुछ हिस्सों में जातिगत भेदभाव और सामाजिक असमानता पूरी तरह समाप्त नहीं हुई थी। यह घटना केवल एक गाँव की नहीं, बल्कि उस चेतावनी की प्रतीक है कि जब किसी समाज में जन्म के आधार पर भेदभाव, आर्थिक असमानता और मानवीय गरिमा की उपेक्षा बनी रहती है, तो उसके परिणाम कितने विनाशकारी हो सकते हैं। इसीलिए प्रश्न केवल इतिहास का नहीं है, बल्कि वर्तमान और भविष्य का भी है—क्या हम ऐसी घटनाओं से सीख लेकर ऐसा समाज बना पाए हैं जहाँ किसी मनुष्य की पहचान उसके जातिगत जन्म से नहीं, बल्कि उसकी समान मानवीय गरिमा से हो?

यदि उपरोक्त उदाहरणों में आपको स्वयं उस परिस्थिति में रखकर यदि मैंने आपको थोड़ा सा भी कस्ट दिया हो, तो उसके लिए मैं क्षमा चाहता हूँ। मेरा उद्देश्य आपको असहज करना नहीं था। मुझे आपको उस वास्तविक पीड़ा का एहसास कराना था की जब ऐसे जातीय भेदभाव की

अमानवीय घटनाये जब किसी मनुस्ये के साथ होती है तब कैसे प्रतीत होता है। क्युकी मेरा विश्वास है कि किसी भी पीड़ा को केवल पढ़कर या सुनकर पूरी तरह नहीं समझा जा सकता। उसे समझने का सबसे प्रभावी तरीका यह है कि हम एक क्षण के लिए स्वयं को उस व्यक्ति की स्थिति में रखकर सोचें, जिसने उस अन्याय को वास्तव में सहा है। तभी हम उसके दर्द, अपमान और असहायता का कुछ अंश महसूस कर पाते हैं। इसी उद्देश्य से मैंने आपको उन परिस्थितियों में स्वयं की कल्पना करने के लिए कहा।

अब स्वयं से एक प्रश्न पूछिए—

यदि जन्म के कारण आपके साथ ऐसा भेदभाव होता; यदि आपको सम्मानपूर्वक जीने, शिक्षा पाने, सार्वजनिक संसाधनों का उपयोग करने या अपने अधिकारों के लिए संघर्ष करना पड़ता, यदि केवल आपकी जाति के कारण आपको अपमान, हिंसा या बहिष्कार का सामना करना पड़ता—तो क्या तब भी आप जन्म-आधारित इस जाति पहचान को समाज की आवश्यक पहचान मानते?

क्या आप तब भी इस जाती पहचान को पूर्वजों को गरिमा मानते? मेरे मत से इनका सभवतः उत्तर आपकी तरफ से प्रत्यक्ष रूप से 'नहीं' में आएगा।

अब इस इस्तिथि में मुझे बताइए, आपको लगता कि आने वाली पीढ़ियों को जन्म के साथ जाति-सूचक पहचान विरासत में मिलनी चाहिए? या फिर आप ऐसा समाज चाहते,जहाँ मनुष्य की पहचान उसके जन्म से नहीं, बल्कि उसके व्यक्तित्व, उसके कर्म और उसकी मानवीय गरिमा से हो जो वास्तव में वैदिक आधारित चतुर्वर्णीय व्यवस्था का भी सिद्धांत है?

क्या आप ऐसी व्यवस्था को आगे भी बनाए रखना चाहते हैं, जिसने इतिहास के अनेक कालखंडों में असमानता, भेदभाव और मानवीय पीड़ा को जन्म दिया? या फिर गुण-कर्म के उस सिद्धांत को जिसे भगवत-गीता में स्वयं भगवान श्री कृष्णा ने बताया(अध्याय-4 ,श्लोक 13) उसको?

क्या आप भारतीय संविधान की उस भावना को आगे बढ़ाना चाहेंगे, जो न्याय, स्वतंत्रता, समानता और बंधुत्व पर आधारित है तथा भारत की एकता और अखंडता को सुदृढ़ करने का संकल्प व्यक्त करती है?

निर्णय आपका है। भविष्य आपका है। आने वाली पीढ़ियाँ भी आपकी हैं। प्रश्न केवल इतना है— **“उन्हें आप 'जाति' देंगे या 'मानवता'?”**

“ अंततः मन से मेरे पाठको के लिए..”

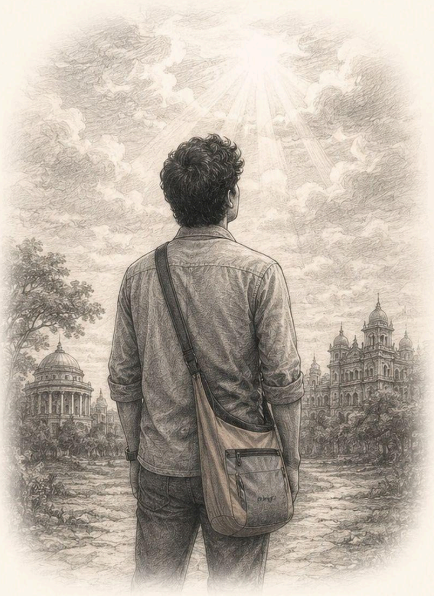

" यदि इस पुस्तक को पढ़ने के बाद भी हमारे विचार पूरी तरह एक जैसे न हों, तो भी मुझे कोई निराशा नहीं होगी। क्योंकि मेरा उद्देश्य आपको अपने जैसा बनाना नहीं था, बल्कि आपको सोचने के लिए प्रेरित करना था। यदि आपने बिना किसी पूर्वाग्रह के तथ्यों पर विचार किया, स्वयं से प्रश्न किए और अपने विवेक से निष्कर्ष निकाला, तो यही इस पुस्तक की सबसे बड़ी सफलता होगी।

लेकिन यदि इस यात्रा के अंत में हम इस एक बात पर सहमत हो जाएँ कि किसी भी मनुष्य का सम्मान उसके जन्म से नहीं, बल्कि उसके व्यक्तित्व, कर्म और मानवता से होना चाहिए, तो मैं मानूँगा कि **'आप'** और **'मैं'** सचमुच **'हम'** बन गए हैं। यही 'हम' इस देश की सबसे बड़ी शक्ति बन सकते हैं। ऐसा 'हम', जो किसी जाति, धर्म या जन्म की पहचान से नहीं, बल्कि समानता, न्याय और मानवता की पहचान से जुड़ा हो। क्योंकि समाज तभी बदलता है, जब विचार बदलते हैं; और विचार तभी बदलते हैं, जब लोग **'संवाद'** करते हैं। यदि आज यह 'संवाद' आपके भीतर एक नया प्रश्न, एक नई सोच या परिवर्तन की एक छोटी-सी इच्छा भी जगा पाया है, तो समझिए कि

'आप' और 'मैं' के बीच की यह यात्रा सफल रही।"

के. करण

भाग – 1 : भारत का संविधान

फुटनोट्स और रेफरेंस:

1. बी. आर. अंबेडकर, कॉन्स्टिट्यूएंट असेंबली डिबेट्स, वॉल्यूम XI (25 नवंबर 1949); भारत का संविधान, प्रस्तावना।

2. भारत का संविधान, प्रस्तावना।

3. जाति का उन्मूलन (1936)।

4. शूद्र कौन थे? (1946)।

5. भारत का संविधान, आर्टिकल 15।

6. भारत का संविधान, आर्टिकल 21।

7. मेनका गांधी बनाम यूनियन ऑफ़ इंडिया।

8. लता सिंह बनाम उत्तर प्रदेश राज्य।

9. शफीन जहां बनाम अशोकन के.एम.

10. शक्ति वाहिनी बनाम भारत संघ।

11. वर्ल्डोमीटर, करंट वर्ल्ड पॉपुलेशन, जुलाई 2026 को एक्सेस किया गया; प्यू रिसर्च सेंटर, द ग्लोबल रिलीजियस लैंडस्केप (2012) भी देखें।

(विश्व में लगभग 4,000 धर्म होने का आंकड़ा अलग-अलग आंकड़ों एवं एनसाइक्लोपीडिया स्रोतों में बताया जाता है; वर्ल्डोमीटर पॉपुलेशन का अपडेट आंकड़ा देता है।)

12. यूनाइटेड नेशंस, वर्ल्ड पॉपुलेशन प्रॉस्पेक्ट्स 2024 (न्यूयॉर्क: यूनाइटेड नेशंस, 2024)।

13. ऑफिस ऑफ़ द रजिस्ट्रार जनरल एंड सेंसस कमिश्नर, इंडिया, सेंसस ऑफ़ इंडिया 2011: रिलीजन डेटा; प्यू रिसर्च सेंटर, रिलीजन इन इंडिया: टॉलरेंस एंड सेग्रीगेशन (2021) भी देखें।

14.भारत के रजिस्ट्रार जनरल और जनगणना आयुक्त का कार्यालय, भारत की जनगणना 2011: धार्मिक समुदायों के अनुसार जनसंख्या (सी-01 तालिका) (नई दिल्ली: गृह मंत्रालय, भारत सरकार, 2015)।

ऑनर किल्लिंग्स केसेस:

15. द टाइम्स ऑफ़ इंडिया, “इंटर-कास्ट कोर्ट मैरिज के बाद दलित आदमी की कथित तौर पर ऑनर किलिंग में हत्या,” मई 2026.

16.लल्लनटॉप, “सहारनपुर लव मैरिज मर्डर केस: पति को UP पुलिस रिक्रूटमेंट एग्जामिनेशन सेंटर के बाहर गोली मारी,” जून 2026.

17. इंडिया टुडे, “कल्याण पिता को इंटर-कास्ट लव मैरिज को लेकर बेटी की कथित तौर पर हत्या करने के आरोप में गिरफ्तार,” जून 2026.

18. द टाइम्स ऑफ़ इंडिया, “अहमदाबाद: दलित आदमी की पीट-पीटकर हत्या; पुलिस इंटर-कास्ट मैरिज एंगल की जांच कर रही है,” मई 2026.

19. द टाइम्स ऑफ़ इंडिया, “कोप्पल: इंटर-कास्ट मैरिज के बाद प्रेग्नेंट महिला पर कुल्हाड़ी से हमला; भाई गिरफ्तार,” फरवरी 2026.

20. द टाइम्स ऑफ़ इंडिया, “हैदराबाद के युवक की लव मैरिज को लेकर कथित तौर पर हत्या; रिश्तेदार गिरफ्तार,” जून 2026.

21. द न्यू इंडियन एक्सप्रेस, “तेलंगाना में इंटर-कास्ट मैरिज के बाद SC आदमी के घर पर हमला और आग लगा दी गई,” फरवरी 2026.

एडिशनल फुटनोट्स (इस डिस्कशन के बाद इस्तेमाल करें)

22. नेशनल क्राइम रिकॉर्ड्स ब्यूरो, क्राइम इन इंडिया (लेटेस्ट अवेलेबल एडिशन), मर्डर और शेड्यूल्ड कास्ट के खिलाफ क्राइम पर चैप्टर।

23. शक्ति वाहिनी बनाम यूनियन ऑफ इंडिया (ऑनर क्राइम को रोकने के लिए गाइडलाइन)।

भाग-2 : समाज

फुटनोट्स और रेफरेंस:

1. बी. आर. अंबेडकर, जाति का विनाश (1936).

2. डी. डी. कोसंबी, भारतीय इतिहास का अध्ययन में परिचय (बॉम्बे: बॉलीवुड प्रकाशन, 1956).

3. आर. एस. शर्मा, शूद्रा इन द स्टडी ऑफ इंडिया (दिल्ली: मोतीलाल बनारसीदास, 1958).

4. रोमिला थापर, अर्ली इंडिया: फ्रॉम द ओरिजिन्स टू AD 1300 (बर्कले: यूनिवर्सिटी ऑफ कैलिफोर्निया प्रेस, 2002).

5. बर्टन स्टीन, ए हिस्ट्री ऑफ इंडिया (ऑक्सफोर्ड: ब्लैकवेल, 1998).

6. सतीश चंद्र, मध्यकालीन इंडिया.

7. सी. वी. वैद्य, मध्यकालीन हिंदू इंडिया का इतिहास.

8. विंसेंट आर्थर स्मिथ, द अर्ली हिस्ट्री ऑफ इंडिया.

9. बी. आर. अंबेडकर, जाति का विनाश, जाति और एंडोगैमी पर चर्चा।

10. फ्रांसिस गैल्टन, एसेज़ इन यूजेनिक्स; जाति के आधार पर वंशानुगत पृथक्करण को खारिज करने वाले मानव जेनेटिक्स पर आधुनिक काम भी देखें।

11. विश्व स्वास्थ्य संगठन, मानव जेनेटिक्स कार्यक्रम; राष्ट्रीय मानव समेकित अनुसंधान संस्थान, जेनेटिक्स और हेरेडिटी पर रिसोर्स भी देखें।

12. ऋग्वेद।

13. ऋग्वेद।

14. भगवद गीता।

15. दयानंद सरस्वती, सत्यार्थ प्रकाश।

16. बी. आर. अंबेडकर, शूद्र कौन थे?।

17. ऋग्वेद।

18. ऋग्वेद।

19. स्टेफ़नी जैमिसन और जोएल पी. ब्रेरेटन, द ऋग्वेद: द अर्लीएस्ट रिलीज़ियस पोएट्री ऑफ़ इंडिया।20. माइकल विट्ज़ेल, ऋग्वेद के क्रोनोलॉजी और कंपोज़िशन पर स्टडीज़।

21. गौतम धर्मसूत्र।

22. बौद्ध धर्मसूत्र।

23. आपस्तम्ब धर्मसूत्र।

24. वशिष्ठ धर्मसूत्र।

25. मनुस्मृति।

26. जॉन हेनरी हटन, कास्ट इन इंडिया: इट्स नेचर, फंक्शन एंड ओरिजिन्स।

27. जी. एस. घुर्ये, कास्ट एंड रेस इन इंडिया।

28. एम. एन. श्रीनिवास, सोशल चेंज इन मॉडर्न इंडिया।

29. निकोलस बी. डर्क्स, कास्ट्स ऑफ माइंड: कोलोनियलिज्म एंड द मेकिंग ऑफ मॉडर्न इंडिया।

30. सुसान बेली, कास्ट, सोसाइटी एंड पॉलिटिक्स इन इंडिया फ्रॉम द एटीन्थ सेंचुरी टू द मॉडर्न एज।

31. लुइस ड्यूमॉन्ट, होमो हायरार्किक्स।

32. आंद्रे बेतेली, कास्ट, क्लास एंड पावर।

33. एंथ्रोप लॉजिस्टिक सर्वे ऑफ इंडिया, पीपल ऑफ इंडिया प्रोजेक्ट।

34. Office of The Physic General And Sensus Commissioner, India, Sensus of India 2011: रिलिजन डेटा।

35. Pu Research Centre, India में धर्म: सहनशीलता और अलगाव।

36. ऋग्वेद, क्रिटिकल प्रोडक्शन और स्टैंडर्ड ट्रांसलेशन।

37. भगवद गीता (गुणों और कर्तव्यों के संबंध में चार वर्णों का विवरण)।

38. महाभारत, आचरण (धर्म) और सामाजिक व्यवस्था पर चर्चा।

39. याज्ञवल्क्य स्मृति।

40. नारद स्मृति।

41. पैट्रिक ओलिवेल, धर्मसूत्र: आपस्तम्ब, गौतम, बोधायन और वशिष्ठ के विधि संहिता।

42. पैट्रिक ओलिवरेल, मनु का लॉ कोड: मानव-धर्मशास्त्र का एक क्रिटिकल प्रोडक्शन और ट्रांसलेशन।

43. पी. वी. केन, ईसाई धर्म का इतिहास।

44. मैक्स मुलर (और), पूर्व की पवित्र पुस्तकें।

45. Frederick Max Mular, वैदिक कॉर्पस और क्रोनोलॉजी पर स्टडीज़।

46. Supreme Court Of India, लता सिंह बनाम उत्तर प्रदेश राज्य।

47. Supreme Court Of India, शक्ति वाहिनी बनाम यूनियन ऑफ़ इंडिया।

48. Supreme Court Of India, शफीन जहान बनाम अशोकन के.एम.

49. भारत का संविधान, आर्टिकल 14, 15, 17, 19 और 21।

50. B. R. अंबेडकर, कॉन्स्टिट्यूएंट असेंबली डिबेट्स, 25 नवंबर 1949 (संविधान, लिबर्टी, इक्वालिटी और फ्रेटरनिटी पर स्पीच)।

51. भारत के रजिस्ट्रार जनरल और जनगणना आयुक्त का कार्यालय, भारत की जनगणना 2011: धार्मिक समुदायों के अनुसार जनसंख्या (सी-01 तालिका) (नई दिल्ली: गृह मंत्रालय, भारत सरकार, 2015)।

52. ऑफिस ऑफ़ द रजिस्ट्रार जनरल एंड सेंसस कमिश्नर, इंडिया, सेंसस ऑफ़ इंडिया 2011: प्राइमरी सेंसस एब्स्ट्रैक्ट (नई दिल्ली: मिनिस्ट्री ऑफ़ होम अफेयर्स, 2015).

53. एंथ्रोपोलॉजिकल सर्वे ऑफ़ इंडिया, पीपल ऑफ़ इंडिया प्रोजेक्ट (कलकत्ता: एंथ्रोपोलॉजिकल सर्वे ऑफ़ इंडिया, 1992–1998).

54. के. एस. सिंह, एड., पीपल ऑफ़ इंडिया.

55. बी. आर. अंबेडकर, हू वर द शूद्र?.

56. बी. आर. अंबेडकर, द अनटचेबल्स: हू वर दे एंड व्हाई दे बिकेम अनटचेबल्स?.

57. बी. आर. अंबेडकर, कास्ट्स इन इंडिया: देयर मैकेनिज्म, जेनेसिस एंड डेवलपमेंट.

58. बी. आर. अंबेडकर, एनीहिलेशन ऑफ़ कास्ट.

59. कॉन्स्टिट्यूशन ऑफ़ इंडिया, प्रिएंबल.

60. भारत का संविधान, आर्टिकल 14, 15, 16, 17 और 21.

61. मेनका गांधी बनाम यूनियन ऑफ़ इंडिया.

62. लता सिंह बनाम स्टेट ऑफ़ उत्तर प्रदेश.

63. शफीन जहान बनाम अशोकन के.एम.

64. शक्ति वाहिनी बनाम यूनियन ऑफ़ इंडिया.

65. ऋग्वेद.

66. भगवद गीता.

67. भगवद गीता.

68. मनुस्मृति.

71. गौतम धर्मसूत्र.

72. बौधायन धर्मसूत्र.

73. आपस्तंब धर्मसूत्र.

74. वशिष्ठ धर्मसूत्र.

75. पैट्रिक ओलिवेल, धर्मसूत्र: आपस्तंब, गौतम, बौधायन और वशिष्ठ के लॉ कोड्स.

77. जी. एस. घुर्ये, भारत में जाति और नस्ल.

78. एम. एन. श्रीनिवास, मॉडर्न भारत में सामाजिक परिवर्तन.

79. निकोलस बी. डर्क्स, जातियाँ मन की: उपनिवेशवाद और आधुनिक भारत का निर्माण.

80. सुसान बेली, अठारहवीं शताब्दी से आधुनिक युग तक भारत में जाति, समाज और राजनीति.

81. डॉ. धर्मवीर- 'अहिंदू कबीर की खोज'

भाग-3 : हम

फुटनोट्स और रेफरेंस:

भारतीय संविधान एवं विधिक स्रोत

1. भारत सरकार. (1950). भारत का संविधान. कानून और न्याय मंत्रालय, भारत सरकार.
2. भारत सरकार. (2024). भारत का संविधान (अपडेटेड एडिशन). लेजिस्लेटिव डिपार्टमेंट.
3. डॉ. भीमराव रामजी अंबेडकर
4. बी. आर. अंबेडकर (1916). भारत में जातियां: उनका मैकेनिज्म, उत्पत्ति और विकास. कोलंबिया यूनिवर्सिटी.
5. बी. आर. अंबेडकर. (1936). जाति का उन्मूलन.
6. बी. आर. अंबेडकर. (1936). वीज़ा का इंतज़ार.
7. बी. आर. अंबेडकर. (1946). शूद्र कौन थे?
8. बी. आर. अंबेडकर. (1948). अछूत.
9. बी. आर. अंबेडकर. (1957). बुद्ध और उनका धम्म.
10. महात्मा गांधी
11. महात्मा गांधी (एड.). (12 दिसंबर 1929). यंग इंडिया.
12. महात्मा गांधी. महात्मा गांधी के कलेक्टेड वर्क्स.

गौतम बुद्ध एवं बौद्ध साहित्य

1. गौतम बुद्ध. धम्मपद.
2. मज्जिम निकाय.
3. दीघ निकाय.

4. संयुत्त निकाय.
5. अंगुत्तर निकाय.
6. विनय पिटक.
7. धर्मशास्त्र एवं प्राचीन ग्रंथ

जाति व्यवस्था एवं भारतीय समाज

1. एम. एन. श्रीनिवास. मॉडर्न इंडिया में सोशल चेंज.
2. जी. एस. घुर्ये. भारत में जाति और नस्ल.
3. लुई ड्यूमॉन्ट. होमो हायरार्किकस.
4. आंद्रे बेतेले. जाति, वर्ग और शक्ति. निकोलस बी. डर्क्स. कास्ट्स ऑफ़ माइंड.
5. सुसान बेली. कास्ट, सोसाइटी एंड पॉलिटिक्स इन इंडिया.
6. हिस्टोरिक मानवाधिकार
7. चन्नार विद्रोह.
8. किल्वेनमनी हत्याकांड.
9. त्रावणकोर स्टेट प्रोक्लेमेशन (1859).
10. मानवाधिकार एवं अंतरराष्ट्रीय सोर्स
11. यूनाइटेड नेशंस. (1948). यूनिवर्सल डिक्लेरेशन ऑफ़ ह्यूमन राइट्स.
12. यूनाइटेड नेशंस. इंटरनेशनल कवनेंट ऑन सिविल एंड पॉलिटिकल राइट्स.
13. यूनाइटेड नेशंस. इंटरनेशनल कवनेंट ऑन इकोनॉमिक, सोशल एंड कल्चरल राइट्स.

भारतीय सरकारी सोर्स

1. रजिस्ट्रार जनरल एंड सेंसस कमिश्नर ऑफ़ इंडिया. (2011). सेंसस ऑफ़ इंडिया 2011.
2. नेशनल क्राइम रिकॉर्ड्स ब्यूरो. क्राइम इन इंडिया (अलग-अलग साल).
3. नेशनल ह्यूमन राइट्स कमीशन. एनुअल रिपोर्ट्स.
4. नेशनल कमीशन फॉर शेड्यूल्ड कास्ट्स. एनुअल रिपोर्ट्स.
5. समाजशास्त्रीय एवं मानवाधिकार स्टडीज़
6. मैक्स वेबर. द रिलिजन ऑफ़ इंडिया.
7. कार्ल मार्क्स. कैपिटल.
8. जॉन रॉल्स. ए थ्योरी ऑफ़ जस्टिस.
9. अमर्त्य सेन. द आइडिया ऑफ़ जस्टिस. मार्था सी. नुसबौम. फ्रंटियर्स ऑफ़ जस्टिस.
10. शोध एवं अकादमिक स्रोत
11. ऑक्सफ़ोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस. इंडियन कास्ट स्टडीज़ पर पब्लिकेशन.
12. कैम्ब्रिज यूनिवर्सिटी प्रेस. साउथ एशियन हिस्ट्री पर पब्लिकेशन.
13. SAGE पब्लिकेशन. सोशियोलॉजी ऑफ़ इंडिया सीरीज़.
14. इकोनॉमिक एंड पॉलिटिकल वीकली. जाति पर विभिन्न आर्टिकल.
15. इंडियन जर्नल ऑफ़ सोशल वर्क. विभिन्न मुद्दे.